सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

अष्टम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'ज्ञानार्णव प्रवचन अष्टम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे ।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय 2
आत्मकीर्तन 3
आत्म रमण 4
श्लोक- 569 1
श्लोक- 570 2
श्लोक- 571 3
श्लोक- 572 4
श्लोक- 573 5
श्लोक- 574 7
श्लोक- 575 8
श्लोक- 576 9
श्लोक- 577 10
श्लोक- 578 12
श्लोक- 579 14
श्लोक- 580 16
श्लोक- 581 19
श्लोक- 582 20
श्लोक- 583 21
श्लोक- 584 23
श्लोक- 585 23
श्लोक- 586 25
श्लोक- 587 26
श्लोक- 588 27
श्लोक- 589 28
श्लोक- 590 30
श्लोक- 591 31

श्लोक- 592 32
श्लोक- 593 32
श्लोक- 594 33
श्लोक- 595 33
श्लोक- 596 35
श्लोक- 597 36
श्लोक- 598 37
श्लोक- 599 39
श्लोक- 600 42
श्लोक- 601 44
श्लोक- 602 45
श्लोक- 603 46
श्लोक- 604 47
श्लोक- 605 49
श्लोक- 606 51
श्लोक- 607 52
श्लोक- 608 53
श्लोक- 609 55
श्लोक- 610 56
श्लोक- 611 57
श्लोक- 612 58
श्लोक- 613 58
श्लोक- 614 59
श्लोक- 615 60
श्लोक- 616 61
श्लोक- 617 62
श्लोक- 618 63

श्लोक- 619 64
श्लोक- 620 65
श्लोक- 621 66
श्लोक- 622 67
श्लोक- 623 67
श्लोक- 624 68
श्लोक- 625 71
श्लोक- 626 73
श्लोक- 627 75
श्लोक- 628 76

ज्ञानार्णव प्रवचन अष्टम भाग

श्लोक- 569

अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम्।
नापवर्गपथि प्राय: कचिद्धत्ते मुनि: स्थितिम्।।

अस्तेय महाव्रत का निर्देशन- सम्यक्चारित्र के प्रकरण में तीसरा व्रत बताया जा रहा है। इसका नाम है अस्तेय महाव्रत। यह व्रत गुणों का भूषण है। अस्तेय नाम है किसी की चीज को चुराना। जब तक अस्तेय महाव्रत अंगीकार नहीं किया जाता तब तक मोक्षमार्ग में कभी भी स्थिरता नहीं मिल सकती है। धन को व्यवहार में 11 वाँ प्राण कहा करते हैं। 10 तो प्राण होते ही हैं। 5 इन्द्रिय, तीन बल, स्वासोच्छ्वास और आयु और धन की 11 वाँ प्राण सा मोहियों ने माना है। किसी के धन को हर लेने पर, नष्ट कर देने पर जिसका धन नष्ट हुआ है वह कितना दु:खी होता है? तो यह कितना असभ्य व्यवहार है कि दूसरों की वस्तु को आँखों बचाकर या किसी तरह चुराकर अपने कब्जे में कर ले। चोरी के अनेक ढंग होते हैं। कोई डाकू आये और बन्दूक दिखाकर किसी से धन ले जाय तो वह चोरी है या नहीं? कोई कहे कि चोरी कैसे है? वह तो उसके हाथ से लेता है। डाकू तो कहता है कि सन्दूक अपने हाथ से खोलो, धन अपने हाथ से निकालकर दो। वह अपने हाथ से निकालकर दे देता है, इसमें चोरी कैसे हुई? तो कहते हैं कि नहीं, वह चोरी है, हाँ अगर अपनी इच्छा से दे तो वह दान कहलाये। वह डाकू तो जबरदस्ती ले रहा है। इसका नाम चोरी है। जब तक कुछ त्याग नहीं होता तब तक मोक्षमार्ग में स्थिरता नहीं होती।

प्रवृत्ति के पापों की पद्धति- यह लोक पहले छोटे पाप से पाप की सीख सीखता है फिर बाद में बड़ा पाप आ जाता है। बड़ा पाप प्रारम्भ में कोई नहीं करता। यद्यपि अज्ञान महापाप है वह बात अलग है लेकिन बड़ी चोरी करना, बड़ा झूठ बोलना, बड़ी हत्यायें करना, ये काम एकदम कोई नहीं करता। प्रारम्भ में छोटा पाप करता है, उसको लोग प्रोत्साहन देते हैं तो फिर वह बड़ा पाप करता है। एक कहानी स्कूल की पुस्तक में लिखी है कि एक लड़का पाठशाला से किसी का एक अच्छा सा चाकू चुरा लाया। उसकी माँ ने उसे मिठाई खिलायी और कहा- अच्छा चाकू ले आया। उसे प्रोत्साहन मिल गया। फिर और चीजें चुराने लगा। इस तरह वह एक बहुत बड़ा डाकू बन गया। एक डकैती में पकड़ा गया। वह फाँसी के तख्त पर जब चढ़ता है तो अधिकारी पूछता है कि भाई तुम्हारी जो कुछ खाने-पीने की इच्छा हो सो खा लो, जिससे मिलना चाहो मिल लो, तुम्हारे दिल की अन्तिम मुराद पूरी की जायगी। तो उसने कहा के हमें कुछ न चाहिए, सिर्फ हमारी माँ से

हमें मिला दीजिए। माँ से मिला दिया। तो उसने माँ से और कुछ नहीं कहा, झट उसी चाकू से माँ की नाक काट ली। फिर जनता को कहा कि मुझे चोरी करने का प्रोत्साहन इस माँ से मिला और इस चाकू से मिला। तो सबसे पहले उसने चाकू चुराया, बाद में बड़ी-बड़ी चोरियाँ करने लगा। ऐसे ही हिंसा की बात है। एकदम से बड़े जीवों को मारने का पहले किसी का दिल नहीं चाहता। पहले कीड़ा कीड़ी मुर्गामुर्गी वगैरह की वह हिंसा करता है, बाद में बड़े जीवों की हिंसायें करने लगता है। चोरी की भी ऐसी ही आदत है। पहले कोई छोटी चोरी की, उसमें प्रोत्साहन मिला, फिर और कुछ चुराया उससे प्रोत्साहन मिला, यों धीरे-धीरे वह बड़ी चोरियाँ करने लगता है। इस कारण अल्प पाप से भी बचने का उपक्रम करना चाहिए।

चौर्यवृत्ति वालों में आत्मध्यान की अपात्रता- जिसकी परधन चुराने की प्रकृति है ऐसे पुरुष का हृदय तो बड़ा कलुषित है। बहुत बड़ा पाप है किसी का द्रव्य चुरा लेना। तो उसका जब तक त्याग नहीं है तब तक वह आत्मा ध्यान का पात्र नहीं होता। इस ग्रन्थ में ध्यान की सिद्धि का उपाय बतावेंगे, उसमें सबसे पहले ध्यान का पात्र कौन होता, उसका वर्णन है। ध्यान के अंग हैं तीन- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिन पुरुषों का रत्नत्रयरूप परिणमन चलता है वे पुरुष आत्मा के ध्यान में सिद्धि प्राप्त करते हैं। तो सम्यक्चारित्र में अहिंसा का वर्णन किया है, सत्य का वर्णन किया है, अब यह अस्तेय का वर्णन चल रहा है।

श्लोक- 570

य: समीप्सति जन्माब्धे: पारमाक्रमितुं सुधी:।
स त्रिशुद्धयातिनि:शङ्को नादत्ते कुरुते मतिम्।।

मुमुक्षु का परधनहरण में अप्रवर्तन- जो पुरुष संसारसमुद्र से पार होने की इच्छा करता है वह मन से, वचन से, काय की शुद्धि से अत्यन्त नि:शङ्क होकर अपनी उपासना करता है और कभी भी दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने की बुद्धि तक भी नहीं करता। वैसे चोरी के अनेक रूप हैं, सरकार का हक चुराना भी तो चोरी है, टिकट चुराना, टैक्स चुराना यह भी चोरी में शामिल है। यद्यपि आज के समय में बिरला ही कोई ऐसा मनुष्य मिलता है जो चोरी से बहुत बचा हुआ है। किसी तरह व्यापार में, लिखने में और कार्यों में किसी तरह से उसमें चोरी की बात आती है, फिर भी किसी किसी के यह ध्यान रहता है कि किसी व्यक्ति पर हम अन्याय न करें। सरकार को तो लोग यह समझते हैं कि सरकार कोई चीज ही नहीं है। पहले समय में एक राजा होता था तो लोगों के चित्त में यह बात रहती थी कि यह राजा है और कोई अन्याय करे, टैक्स चुराये तो समझा जाता था कि उसने राजा का धन चुराया है, ऐसी दृष्टि लोगों की रहती थी। अब राजा किसे कहें? कमेटी है, वही सरकार है। यदि कमेटी के लोग भी ईमानदारी से चलते होते तो लोगों का उन पर विश्वास

रहता, लेकिन सब लोग जानते हैं कि कमेटी के प्राय: सभी लोगों का आचरण यों ही खराब है तो जनता पर उसका विश्वास नहीं बनता। ऐसी परिस्थिति में भी श्रावकों का ऐसा कर्तव्य है कि वे अपनी ऐसी सीमा रक्खे कि जिससे दूसरे व्यक्ति का चित्त दु:खी न हो, और राज्यनियमों के उद्देश्यों का उल्लंघन न हो, किसी का धन अन्याय से न लें।

श्लोक- 571

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्या: शरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिता:।।

परधनहरण में प्राणहरण जैसे पाप का कारण- शास्त्रों में धन को जीवों का बाह्यप्राण कहा गया है, इस कारण जो धन का हरण करता है वह समझिये दूसरे जीवों के प्राणों का घात करता है। सफर में मान लो टिकट में कोई बात की साधारण सी गलती रह गयी और टिकटचेकर आकर देखता है, उस मुसाफिर का टिकट रख लेता है तो वह मुसाफिर कैसा उसके पीछे लगा लगा फिरता है। मानो उस टिकटचेकर ने उसके प्राण हर लिए हों, किसी का धन कोई हर ले तो मानो उसके प्राण ही हर लिए हों। इस धन को बाह्य प्राण कहा है। वैसे तो प्राण इन्द्रिय, आयु, बल और स्वासोच्छ्वास हैं, अन्न प्राण नहीं हैं, मगर कहा है कि अन्न भी प्राण है। कोई अन्न न खाये तो कैसे प्राण रहें? और अन्न मिलता है पैसों से। पैसा न हो तो कैसे अन्न खाने को मिले? तो पैसा भी प्राण माना है। जिन्हें लोक में यश की, नाम की, इज्जत की चाह है उनके लिए वैभव प्राण है। तो ये सब बाह्य प्राण कहे गए हैं। जो किसी का धन हरे तो समझना कि उसने उसके प्राण ही हर लिए। तो चोरी का करना भी हिंसा है।

हिंसा पाप और अहिंसा धर्म- भैया ! मूल में तो पाप एक ही है हिंसा और व्रत एक है अहिंसा। एक हिंसा में ही सब पाप गर्भित हो गए। अज्ञान रहे, कोई विवेक न जगे, भेदभाव न हो, आत्मा का परिचय न हो तो वह हिंसा ही तो है। उसने अपने प्रभु की हिंसा की। विकास रुक गया तो वह हिंसा ही तो हुई। हिंसा की तो हिंसा हुई, झूठ बोला तो वह भी हिंसा, जिसके सम्बन्ध में झूठ बोला प्रथम तो उसका प्राण दुखाया। कितना बुरा लगता है। कोई हमारे सम्बन्धों में झूठ बोल दे, जो बात हो ही नहीं तो उसको सुनकर कितना बुरा लगता है। तो झूठ बोलना भी एक प्राणों का घात है, दूसरे को सताया है। तो असत्य बोलना भी हिंसा ही है, चोरी करना भी हिंसा ही है। दूसरे का बाह्यप्राण हर लिया तो उसने उसका कितना दिल दुखा दिया, यह भी चोरी है। तो चोरी करना भी हिंसा में शामिल है, धर्म भी एक है अहिंसा। ज्ञान किया, भ्रम छोड़ा,

आत्मतत्त्व को समझा तो वहाँ हमने क्या किया? अपनी दया की। अपने आपको संसार में रुलने से बचा लेना, यह अपनी दया हुई कि नहीं? यही अहिंसा हुई। ज्ञान करें वह अहिंसा, दया का आचरण करें वह अहिंसा, सत्य का आचरण करें वह अहिंसा, परवस्तु को न चुरायें यह भी अहिंसा ही है। क्योंकि इसमें अपने चैतन्य प्राणों की रक्षा की। ज्ञान, दर्शन का विकास न रुकेगा, तो ज्ञान, दर्शन प्राण की रक्षा की, सो अहिंसा ही है और दूसरों को भी निर्भय रखे तो वह भी अहिंसा है।

असत्प्रवर्तन में आत्मध्यान की अपात्रता- जो मनुष्य ईमानदार है, सत्य है, परधन नहीं हरता उसके प्रति लोगों की कितनी बड़ी आस्था रहती है। बड़ा सज्जन है, बड़ा सदाचारी है। तो व्रती पुरुष का लक्षण ही यह है कि जिसकी ओर से लोग नि:शंक रहें। तो जैसे व्रती पुरुष में एक यह गुण होता है कि चोरी नहीं करता ऐसे ही यह भी गुण होना चाहिए कि वह झूठ न बोले। प्राय: करके यह गुण तो बहुतों में पाया जाता है कि दूसरे के धन की चोरी नहीं करते, इसकी अपेक्षा कभी झूठ न बोलें इसमें कुछ कमी रह जाती है। किसी भी बात पर जरा सी बात पर झूठ बोल देते हैं। बच्चा कह रहा है कि पैसा दो, कहते हैं कि नहीं है पैसा। रखे हैं जेब में पैसा पर झूठ बोल देते हैं कि नहीं है पैसा। किसी ने कुछ माँगा तो कह देते हैं कि नहीं है, अमुक चीज और अपने पास वह चीज रखे हैं। यों झूठ बोलने की एक आदत सी बन जाती है। तो यह झूठ बोलने की शिक्षा धीरे धीरे छोटी छोटी बातों में मिलती है। बाद में बड़ी-बड़ी झूठ बोलने की आदत बन जाती है। तो इसमें अपने प्राणों का घात किया। आत्मातिरिक्त वस्तु को अपनाने के लिये जो प्रवृत्ति है असत्यभाषण है वह भी चोरी है। ज्ञाता द्रष्टा न रह सके, आत्मा का ध्यान न कर सके, एकदम किसी वस्तु की ओर आकर्षण है तब तो झूठ बोला, चोरी की। तो ऐसा ज्ञानरूप जो आचरण करता है वह आत्मा का ध्यान नहीं कर सकता।

श्लोक- 572

गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम्।
चौर्येणाकीर्तय: पुंसां शिरस्यादधते पदम्।।

चौर्यवृत्ति में गुणों का विघात- चोरी करने वाले में अन्य चाहे अनेक गुण हों लेकिन वे सब गुण गौण हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। अभी किसी के सम्बन्ध में मालूम तो पड़ जाय कि इसने चोरी की और अपनी मित्रमण्डली गोष्ठी में भी जो अपने संग में रहता है तो सभी लोगों को उसके प्रति उपेक्षाभाव हो जाता है। चोरी करने वाले के सभी गुण गौणता को प्राप्त हो जाते हैं। विद्या कितनी ही पढ़े हो और चोरी करता हो तो उसकी विद्या विडम्बनारूप हो जाती है। उस ज्ञान का कुछ महत्त्व नहीं रहता। जैसे आजकल लोग जरा-

जरासी बात पर कहने लगते कि ये तो पक्के पुराने पंडित हैं। कोई गलती हो जाय तो उसके एवज में लोग कहते हैं। तो उसकी विडम्बना ही तो बनी है। लोगों ने अहाना बना रक्खा है कि पर-उपदेश बहुतेरे। जो खुद तो कुछ न करे और दूसरों को शिक्षा दे उसका नाम पंडित है। प्राय: यह बात होती है। पंडिताई में, भाषण में जो कुछ सही सही बात है वह तो बोलनी ही पड़ती है और खुद कुछ करते नहीं हैं तो लोग पंडित कहने लगते हैं उसे जो दूसरों का उपदेश दे और खुद कुछ न करे। तो उसका अर्थ यही है कि जिसमें कोई प्रकार का ऐब है उसके सारे गुण भी गौण बन जाते हैं। वैसे ज्ञान दूसरी बात है, चारित्र दूसरी बात है, जो ज्ञान करे उसके चारित्र जगे ही जगे ऐसा कुछ नियम तो नहीं है। लेकिन चारित्र न जगे तो उस ज्ञान की शोभा नहीं है, वह ज्ञान विडम्बनारूप है। अतएव कहा भी है कि वह ज्ञान काहे का जो ज्ञान कर ले और करे कुछ नहीं। वह ज्ञान तो भाररूप बन जाता है। जान करके भी सदाचार पर न चले तो उसके ज्ञानादिक गुण भी विडम्बना को प्राप्त होते हैं। उनकी कुछ इज्जत नहीं रहती।

चोरी के क्लेश- चोरी करने वाले का बड़ा अपयश रहता है। जो लोग चोरी करते हैं, डाका डालते हैं उनका जीवन देख लो कभी सुख से रह ही नहीं सकता। डाका डाला, हजारों का धन लूटा मगर छिपकर रहना पड़ता है, जंगल में रहना पड़ता है। कभी-कभी खाने का भी साधन नहीं मिलता। तो चोरी करने वाले न तो सुखी रहते हैं और न धनी बनते हैं। बल्कि उनका अपयश ही फैलता है। चोरी करने वाले पुरुष के कोई गुण नहीं गाता है। उसका शास्त्र पढ़ना और विद्याएँ सीखना ये सब विडम्बनारूप बन जाते हैं और अकीर्तिका टीका उनके ललाट पर लग जाता है। जो अस्तेयव्रत नहीं पाल सकते उनमें आत्मध्यान की पात्रता नहीं होती।

श्लोक- 573

पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम्।
परवित्तामिषग्रासलालसानां धरातले।।

चोरी का रूप- पहले तो अध्यात्मदृष्टि से चोरी की बात का निर्णय करें कि देखिये- हैतो प्रत्येक वस्तु का स्वरूप न्यारा और उसे अंगीकार करेंकियह मेरी वस्तु है तोबताओ यह चोरी हुई कि नहीं हुई? देह है, आपके घर के तिजोरी में रखा हुआ धन है तो भले ही रखा है, लोकव्यवहार में आपका उस पर अधिकार है, आप उसकी व्यवस्था बनाते हैं लेकिन यह तो बताओ कि आखिर वह परधन है कि नहीं? आपकी कोई चीज है क्या? वह तो परवस्तु है। मेरी है, यही मानने का नाम चोरी है। जो कपड़े आप पहिने हैं वे कपड़े भी आपकी चीज है क्या, आपका उनमें स्वरूप नहीं, आपका उन पर अधिकार नहीं, वे जड़ है, बाहरी चीज हैं- आपसे

न्यारे हैं और भीतर में यह श्रद्धा बनायें कि यह मेरी कमीज है तो अध्यात्मदृष्टि से यह चोरी हुई। परवस्तु को मानना कि यह मेरी है बस यही अध्यात्मदृष्टि से चोरी है फिर बाह्य की अवस्था में आपके अधीन जितनी चीजें हैं वे आपकी हैं, उन्हें फिर अपनी मानना, अपनी बनाना यह तो चारी प्रकट ही है।

चोरी से लौकिक और पारलौकिक हानि- परवस्तु को अपनी अङ्गीकार करना, अपने कब्जे में करना ऐसा जो आचरण रखता है, उसकी दृष्टि तो पर की ओर लगी हुई है, वह आत्मध्यान नहीं कर सकता। इस पृथ्वी में परधनरूपी मांस के भक्षण में आसक्त पुरुषों के पुण्य के आचरण इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं। चोरी करने वाले के आचरण उत्तम नहीं है। आप देखिये- छोटे-छोटे लोग जिनके सम्बन्ध में यह विदित हो जाता है कि इनमें चोरी की आदत है उन्हें कोई अपने ठिकाने में ठहरने नहीं देता। चोरी करने वालों की कलायें बहुत विचित्र-विचित्र हैं। किसी को पता भी न पड़े, ऊपर के कपड़ों में कुछ न असर पड़े और सबसे नीचे की कमीज की भीतरी जेब कहो कट जाय। यह भी उनका एक पाठ्यक्रम है, उसे भी सिखाने वाले और सीखने वाले लोग होते होंगे। ऐसा काम करने वालों का कितना क्रूर चित्त होता होगा। जब वे यह विचार कर चलते हैं कि किसी का धन हरना है, किसी की जेब काटना है तब उनके अन्तरङ्ग आत्मा को देखिये- कितना मलिन है उनका आत्मा और वे इतनी चोरी करते मगर साहूकार वे नहीं बन पाते। चोरी करने वाला कोई धनी नहीं देखा जाता और न कोई उनकी इज्जत करता है। चोरी करने की आदत बहुत नीची प्रकृति की है। चोरी के सर्वथा त्याग का संकल्प हो और त्याग हो तब ही उसमें धर्म की पात्रता आ सकती है।

चोरी और झूठ का परिणाम- सत्यघोष की कथा प्रसिद्ध है। उसने दुनिया में अपने को बड़ा सत्यवादी प्रसिद्ध कर रखा था। जनेऊ में चाकू लटका कर रक्खा था और सबसे कहता था कि मेरा यह नियम है कि यदि मुझसे झूठ बोलना हो गया तो मैं अपनी जीभ इस चाकू से काट लूँगा। वह सत्य बोलता भी रहा। यों ही तो किसी को विश्वास हो नहीं जाता। कोई अनेक असत्य बोलता हो तो उससे उतना खतरा नहीं पहुँचता जितना की कभी असत्य न बोलता हो और एक बार झूठ बोल दे। क्योंकि, असत्य बोलने वाले से तो लोग सावधान रहते हैं और सत्य बोलने वाले के विश्वास में लोग पड़ जाते हैं। एक समय किसी सेठ को कहीं यात्रा में जाना था, सो 10 रत्न उसने सत्यघोष के पास रख दिये और कह दिया कि जब हम लौटेंगे तो वापस ले लेंगे। जब यात्रा करके वह सेठ लौटा तो अपने दसों रत्न माँगे। सत्यघोष ने वे रत्न देने से मना कर दिया। बोला- हमारे पास रत्न नहीं है। उस सेठ को तो यह विश्वास था कि सत्यघोष ने दुनिया में अपने को सत्यवादी प्रसिद्ध कर दिया है यह झूठ न बोल सकेगा, पर आज इसने झूठ बोला है। वह सेठ बड़े जोर-जोर से चिल्लाने लगा कि सत्यघोष ने मेरे 10 रत्न रख लिए हैं और देने से इन्कार कर दिये हैं। जब वह सेठ रोज-रोज चिल्लाया तो एक दिन राजा ने बुलवाया। जब सेठ ने अपनी बात बताया तो राजा को विश्वास न हुआ। मगर रानी ने कहा कि हम इसका सही सही पता लगायेंगी। सत्यघोष को रानी ने अपने यहाँ बुलाया, कुछ खेल खेलने लगी। सत्यघोष से रानी ने चाकू भी जीत लिया, जनेऊ भी जीत लिया। चाकू और जनेऊ

एक दासी को रानी ने देकर कहा कि सत्यघोष के घर जावो और उसकी स्त्री से यह कहो कि सत्यघोष ने देखो यह निशानी भेजी है और कहा है कि जो 10 रत्न रखे हैं वे ले आवो। सत्यघोष की स्त्री ने दसों रत्न निकाल कर दे दिए। यह दासी रानी को दसों रत्न लाकर दे देती है। लेकिन रानी ने उस सेठ की परीक्षा के लिए बहुत से नकली रत्नों में उन दसों रत्नों को मिलाकर कहा कि इनमें से जो तुम्हारे रत्न हों सो निकाल लो। सेठ ने अपने वे ही दसों रत्न निकाल लिए जो उसके थे। फिर उस सत्यघोष को तीन दण्ड दिये गए, जिनमें से उसे एक स्वीकार करना था। या तो थाली भर गोबर खाये, या मल्ल के 32 घूँसे सहे या अपना सारा धन दे। सत्यघोष को सबसे सस्ता लगा मल्ल के 32 घूँसे सहना। मल्ल ने एक ही घूँसा मारा तो उसकी दम निकलने लगी। हाथ जोड़कर कहा हम मल्ल के 32 घूँसे न सहेंगे, हम तो थाली भर गोबर खायेंगे। उसे गोबर भी खिलाया, वह भी न खाया गया और अन्त में उसका सारा धन भी जब्त कर लिया। तो जो सत्य बोलता है और एक भी झूठ बोल जाय तो उससे भी उसका और दूसरों का अधिक बिगाड़ है। जो बड़े आचरण से रहता है, चोरी नहीं करता है वह कदाचित् एक बार चोरी कर ले तो उससे भी उसका और दूसरे का भी अधिक बिगाड़ है। जो अस्तेय व्रत का पालन नहीं करता है ऐसे पुरुष के धर्म कहाँ है और आत्मा का ध्यान कहाँ है? आत्मा की सिद्धि के प्रकरण में यह अस्तेय का वर्णन इसीलिए किया जा रहा है कि ये सब ध्यान के अंग हैं। अपना आचरण सत्य हो तो आत्मध्यान की योग्यता हो सकती है।

श्लोक- 574

परद्रव्यग्रहार्त्तस्य तस्करस्येह निर्दया।
गुरुबन्धुसुतान्हन्तुं प्राय: प्रज्ञा प्रवर्त्तते।।

तस्करों की निर्दया प्रकृति- दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करना एक ग्रह है, पिशाच है, उससे पीड़ित जो चोर है उसको तो गुरु, भाई, पुत्र जिस किसी को भी मार डालने की इच्छा हो जाती है। जो दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने का मन में परिणाम रखता है वह दूसरे को मार डालने का भी प्रयत्न कर सकता है और डाकू चोर तो ऐसा किया ही करते हैं। तो चोरी में कितनी कलुषता पड़ी हुई है इसका अंदाज कीजिए। चोरी की प्रकृति वाले पुरुष अनेकों की जान भी नष्ट कर सकते हैं। चोरों को दया नहीं रहती। चोरी साक्षात् हिंसा है। दूसरे का धन वैभव लोक में उसके प्राण की तरह है। जो अपने चित्त में शान्ति के विरुद्ध विकारभाव लायगा वह सुखी हो ही नहीं सकता। रूखा-सूखा जैसा मिले खा ले, पर दूसरों के द्रव्य को हड़पने का भाव न रखे। क्योंकि उस आदत में इसका नुकसान ही नुकसान है, आध्यात्मिक हानि है, कर्मबन्ध है और भविष्य में भी उसे चैन नहीं है। जो चोरी करते हैं वे पुरुष निर्दयी होते हैं, उनके दया का अंश नहीं जगता। प्रथम तो उन्होंने

अपने आप पर निर्दयता की, अपने आपको शान्त नहीं रख सके, शुद्ध ज्ञानप्रकाश में अपने को न रख सके, महान विकल्पों का अन्धकार अपने आप पर चढ़ा लिया। चोरी में सब विवेक खतम हो जाते हैं। उसने अपनी तो हिंसा की ही, साथ ही उसमें दूसरों की भी हिंसा बसी हुई है।

पापनिवृत्ति का विवेक- वाल्मीक ऋषि का एक कथानक है कि पहले वे जंगल में रहते थे। मार्ग से कोई निकलता तो उसका धन छीन लेते थे। एक बार उसी मार्ग से एक साधुजी निकले तो उस साधु से भी वाल्मीक ने कहा, खड़े रहो, तुम्हारे पास जो कुछ हो वह रख जावो। तो कमण्डल सोंटा जो भी था रख दिया और साधु बोला कि ये सब चीजें रखी हैं घर ले जावो और एक बात तुम घर से अपने कुटुम्बियों से पूछकर आना। ...क्या? ...यह पूछकर आना कि तुम लोगों के पालन-पोषण के लिए हम इतना तो अन्याय करते हैं, दूसरों का धन हरते हैं, जान लेते हैं तो उससे जो पाप बँधेगा उसमें तुम सब भी आधा बाँट लोगे?...अच्छी बात पूछ कर आयेंगे। वाल्मीक तुरन्त अपने घर आये, अपने माँ, बाप, स्त्री सबसे पूछा कि जो पाप हम तुम्हारे लिए करते हैं उनमें आधे बाँट लोगे ना?तो किसी ने पाप बाँटने के लिए स्वीकार भी नहीं किया। सबने मना कर दिया। तब वाल्मीक को ज्ञान जगा- ओह ! जिनके लिए हम अनर्थ कर रहे हैं वे कोई भी पाप के भागी नहीं बन रहे हैं, अब तो वास्तविकता इसी में है कि पर का विकल्प न बनाएँ। ये सभी भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अन्य-अन्य जीव हैं। तो जहाँ निर्दोष वृत्ति जगती है वहाँ विवेक जगता है और चोरी जैसा खोटा परिणाम वहाँ हो नहीं सकता। जो चोरी का परिणाम रखता है उसको किसी के मारने में भी दया नहीं होती।

श्लोक- 575

हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी।।

परधन की इच्छा से अनर्थ- जिस पुरुष के हृदय में परधनरूपी माँस भक्षण की इच्छा स्थान पा लेती है अर्थात् जो दूसरों के धन हरने रूप माँस भक्षण करता है उसके कंठ में तो सर्पिणी के समान इच्छा लगी हुई है। जैसे किसी के गले में सर्पिणी पड़ी हो तो वह पुरुष अरक्षित है, काल के सन्मुख है, इसी तरह जिसके चित्त में परधन को ग्रहण करने की इच्छा लगी है वह भी अरक्षित है, निरन्तर व्याकुल है। परधनासक्ति में कितने विकल्प उठाये पाते हैं, क्या उपाय किये जाते हैं, कितने मायाचार किये जाते, विषय कषाय व्यसन सब उसमें स्थान पाये हुए हैं। तो इच्छा क्या क्या अनिष्ट नहीं करती, जितनी जो कुछ आपत्तियाँ हैं वे सब इच्छा के कारण हैं। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है, अब भी वह आनन्दतृप्त है, उसे कोई क्लेश नहीं है मगर इस ज्ञानसमुद्र में इच्छा तरंग उठी कि सारा आत्मा विह्वल हो गया। अब उसे यह स्वप्न समान असार जगत्

भी सार दिखने लगा। विषयभोग सामग्री भी उसे सार नजर आने लगी और जो यत्न न करना चाहिए इस भगवान आत्मा को वे यत्न किये ता रहे हैं। तो इस जीव को दु:ख देने वाली इच्छा है।

आत्मा का आनन्दस्वभाव- भैया ! इच्छा न हो तो जीव को कोई क्लेश नहीं है। देख लो सब मनुष्य अकेले-अकेले नजर आ रहे हैं। अकेला आत्मा अकेला ही देह के सम्बन्ध को प्राप्त है। सबकी अपने-अपने अकेलेपन की बात है, लेकिन भीतर क्या मैल पड़ा है, क्या विकार पड़ा है कि इन सब मोही जीवों के हृदय विकल्पों का भार लादे हुए हैं। कोई किसी तरह का विकल्प करता, कोई किसी तरह का। मान लो किसी तरह का विकल्प आपमें है उस तरह का विकल्प क्या हममें आ सकता है? वह विकल्प आपका आपमें है और हमारा हममें है। हम सोचें कि आप न विकल्प करें और आप हमारे प्रति सोचें कि यह विकल्प न करे तो ऐसा सोचने से क्या किसी के कोई विकल्प मेट देगा? कोई किसी के विकल्प मेटने में समर्थ नहीं है। अपना ज्ञान जगायें और अपने विकल्प मिटायें। निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप में अपना उपयोग जगायें तो अपना क्लेश मिट सकता है, अन्य कोई क्लेश मिटने का उपाय नहीं है। आत्मा का तो आनन्द स्वभाव ही है, उसकी आस्था कीजिये। बाहरी पदार्थों का संचय कर-करके क्लेश मिटने की आशा करना अग्नि में घी और ईंधन डाल-डालकर अग्नि को शान्त देखने की इच्छा की तरह है। यह कभी हो नहीं सकता कि हम परभावों का संचय कर-करके तृष्णा को दूर कर लें या शान्ति पा लें। यह तो ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञानी जीव अपने चित्त में ऐसा विरक्त है, फकीर है कि उसे किसी परद्रव्य से लेप नहीं है। वह तो अपने को शुद्ध अलिप्त ज्ञानमात्र मानता है।

इच्छाओं के त्याग से ही शान्तिलाभ- जिसके हृदय में परवस्तु की तृष्णा लगी है और परधन को ग्रहण करने की इच्छा लगी है उसकी सब इच्छायें, उसके सब अनिष्ट कर्तव्य ये जितनी बड़ी-बड़ी घटनायें हैं ये सब हैं क्या? दूसरों के धन को ग्रहण करने की इच्छा का परिणाम है। बड़े नेता हो गए, मिनिस्टर हो गए, ऊँचे अधिकारी बन गए, तिस पर भी उनकी लालसा जगी है, वैभव बढ़ा रहे हैं तो उसका फल क्या होगा? कोई किसी तरह गुजरता, कोई किसी तरह। तत्त्व क्या निकला? कुछ भी नहीं। जैसा परिणाम किया, विकार किया उस भाव के अनुसार वह अपना फल भोगता है, संसार में रुलता है, तत्त्व कुछ भी नहीं है इन समागमों में। जो ज्ञानी जितना अपने आत्मा की उपासना कर लेगा, प्रभु भक्ति, स्वाध्याय, अपने अन्तस्तत्त्व की उपासना कर लेगा वह उतना पवित्र है और वह मोक्षमार्गी है, वही संसार से छूट सकता है। शेष तो सर्वसमागममात्र अनर्थ हैं।

श्लोक- 576

चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता।

वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम्।।

जननी द्वारा भी चोर का परिहार- जिसका स्वभाव चोरी करने का हो जाता है ऐसे अपने पुत्र की माता भी यह जानकर कि यह चोर है, इसका चोरी का स्वभाव है, अपना धन हरे जाने के भय से पुत्र को भी छोड़ देती है। चोरी की आदत वाले पुरुष पर किसी का विश्वास नहीं रहता, उसे कोई निकट नहीं बैठने देता। माँ भी उस पुत्र का साथ नहीं देती है जो चोरी करता है और की तो कथा ही क्या है? और, धन ऐसी चीज है कि एक प्राण की तरह है। सबको अपना-अपना धन प्रिय है। माँ भी अपना धन रखे है तो वह भी अपने पुत्र को नहीं दे सकती और ठीक भी बात है। कोई दूसरा पुरुष ऐसा विश्वासी नहीं है कि सारा धन उसे दे दो तो वह सेवा करता रहे। पुत्र का अगर भाव बदल जाय, माँ की खबर न रखे, तो यह भी तो हुआ करता है। संसार का निवास बड़ा कठिन है। क्या करे, किस तरह शान्त रहे, सुखी रहे? और कठिन भी कुछ नहीं। यदि सन्तोष है और एक ही उद्देश्य है- मैं मनुष्य हुआ हूँ तो रत्नत्रयधर्म पालन के लिए हुआ हूँ, मेरे को काम यही है कि मैं अपने आत्मा का सही विश्वास रखूँ, ज्ञान रखूँ, उसमें ही मग्न रहूँ, उसमें ही प्रसन्न रहूँ, इस प्रकार का उद्देश्य बनता है तो मनुष्य को कहीं क्लेश नहीं है।

परवैभव की अप्रयोजकता- भैया ! लम्बी चौड़ी बात है क्या, इतनी ही तो बात है कि थोड़ी भूख की वेदना मिटानी पड़ती है। इसके अलावा और मनुष्य का अटका क्या है? अटका तो धर्मपालन का काम है। धर्मपालन के बिना न शान्ति मिले और न उद्धार हो सकता है। दुनिया में नाम, यश न हो तो क्या बिगाड़ है? न हो न सही वैभव अधिक न हो तो क्या बिगाड़ और इल्लत से बचे। जितना वैभव होगा उतने विकल्प, उतनी चिन्ता और उतने ही क्लेश हैं, और उतना ही धर्म में मन नहीं लगता। तो सन्तोष बिना तो कहीं भी गुजारा नहीं होता, चाहे धनी हो अथवा गरीब। ज्ञान ही इस जीव का शरण है। ज्ञान के सिवाय कोई अपना बन्धु, देव, मित्र, गुरु नहीं है। ज्ञान ही हमारा भगवान है, ज्ञान ही हमारी रक्षा करने वाला है, तो चोरी करने के स्वभाव वाले पुरुष चित्त में विह्वल रहते हैं, वे आत्मा का क्या ध्यान करेंगे? लोक में भी उनका कहीं ठिकाना नहीं है।

श्लोक- 577

भ्रातर: पितर: पुत्रा: स्वकुल्या मित्रबान्धवा:।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करै:।।

चोर के संसर्ग की अवाञ्छनीयता- चोर का कोई भी सगा नहीं है। चोर चोर भी चोर के साथी नहीं हैं। तो जो सज्जन हैं वह चोर का कैसे साथी बन सकता है। चोर का चोर से साथ नहीं, चोर का किसी सज्जन

से साथ नहीं। भाई हो, पिता हो, पुत्र हो, स्त्री हो, मित्र हो कोई भी चोर का क्षणमात्र के लिए भी संसर्ग नहीं चाहता। चार चोर थे तो कहीं से मान लो 2 लाख का धन चुरा लाये। तीन चार बजे रात को किसी शहर के बाहर किसी जंगल में छुप गए। उन्होंने विचार किया कि यह धन तो बटेगा ही, पर ऐसा करें कि दो भाई तो चलें, शहर से बढ़िया भोजन लायें, खूब खायें फिर आनन्द से धन बाँट लेंगे। तो उनमें से दो चोर तो चले गए शहर से भोजन सामग्री लेने। अब जो भोजन सामग्री लेने गए उन चोरों के मन में आया कि ऐसा करें कि भोजन में विष मिलाकर ले चलें, विष भरे लड्डू वे दोनों खा लेंगे तो मर जायेंगे। फिर हम तुम दोनों एक एक लाख का धन बाँट लेंगे। यहाँ तो यह विचार किया और उसी समय उस अड्डे पर बैठे हुए दोनों चोरों ने क्या सलाह किया कि उन दोनों को आते समय अपन बन्दूक से मार दें, जब मर जायेंगे तो हम तुम दोनों एक एक लाख का धन बाँट लेंगे। अब शहर से वे दोनों चोर विषभरे लड्डू लाये और इधर दोनों चोर बन्दूक ताने बैठे। जब पास में वे पहुँचे तो दोनों ने उन्हें बन्दूक से मार दिया। वे दो तो गुजर गए। अब वे दोनों सोचते हैं कि अब तो एक एक लाख का धन बाँट ही लेंगे, पहले ये जो मिठाई आयी है उसे खा लें। ज्यों ही उन दोनों ने मिठाई खायी तो वे भी गुजर गए। यों चारों के चारों चोर गुजर गये और धन की जगह धन पड़ा रह गया। तो चोर तो चोर के भी सगे नहीं होते, दूसरे की बात तो जाने दो। चोरों की परस्पर में क्या मित्रता?

चौर्यवृत्ति से अनर्थ- चारी नामक पाप महा अनर्थ का परिणाम है। चोरी का पूर्णरूप से त्याग साधुजनों के पलता है, गृहवासियों के तो किसी न किसी प्रकार का थोड़ा बहुत चोरी का दोष लगता ही रहता है। इसीलिए गृहस्थों के अचौर्य अणुव्रत बताया है, अचौर्य महाव्रत साधु के ही होता है। तो जहाँ चोरी का परिणाम रहता है वहाँ अनुमान कीजिए कि कितनी कलुषता रहा करती है, कितना गंदा भाव बनता है और कितना अज्ञान भरा है। चोरी के परिणाम वाले पुरुष में धर्म की पात्रता नहीं जगती। वह क्या धर्म करेगा? चोरी व्यसन में भी है, पाप में भी है। चोरी की आदत बन जाना भी व्यसन बन जाता है और जिसके कोई नियम नहीं, आड नहीं; ऐसा पुरुष कोई चोरी कर ले तो उसकी फिर आदत बन जाती है। कोई व्रती हो, किसी के प्रतिज्ञा हो, नियम भी हो और किसी कषाय के आवेग में रहकर कोई साधारण सी चोरी कर ले किसी कारण किसी परिस्थिति में तो वह संभल सकता है। और जिसके व्रत नहीं है, चोरी की इल्लत लगी है उसकी तो आदत बन जाती है।

चोर का शुभकार्यों में सम्मिलित होने का अनधिकार- जिसे चोरी की आदत बन गयी है वह व्यसनी है, उसे शुभकार्यों में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं है। मंदिरों में लिख भी दिया जाता है कि जो पुरुष व्यसनी है उसे पूजा करने का अधिकार नहीं है। जिसको जुवा खेलने का व्यसन लग गया है उसे भी धर्मकार्यों में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं है। हाँ कोई सबके बीच में इन व्यसनों को त्याग दे और कभी न करने की प्रतिज्ञा करे तो उसका यह पाप धुल जाता है, फिर उसके ऐसी स्वच्छता जगती है कि वह पूजा

करने का पात्र होता है, ऐसे ही मद्यमांस भक्षण की जिनकी प्रकृति है वे प्रभुपूजा करने के अधिकारी नहीं हैं, और करे कोई ऐसा तो यह कलिकाल की बात है। यह तो इस समय बात होती है, पर मांसभक्षी जीव को पूजा करने का अधिकार नहीं है। माँसभक्षण छूटे तो धर्म धारण की पात्रता जगे। ऐसे ही जो मदिरापान से बेहोश रहा करते हैं उन्हें भी क्या धर्म का अधिकार है? वे धर्मधारण कर ही नहीं सकते। धर्मधारण करने की पात्रता उनमें ठहर ही नहीं सकती। ऐसे ही चोरी करने का जिसका स्वभाव है उसमें भी धर्म की पात्रता नहीं ठहर सकती। निरन्तर क्लेश संक्लेश रहते हैं और उसका तो चित्त ही स्थिर नहीं है। चोर जा रहा है, कहीं जरा सी पत्ती भी खुरकी तो झट वह भयभीत हो जाता है। कोई आ तो नहीं रहा, किसी ने देख तो नहीं लिया। तो ऐसे ही परस्त्रीसेवन की बात है। ये सब व्यसन हैं, इन सब व्यसनों में रहने वाले लोगों को शुभकार्यों में हाथ बटाने का अधिकार नहीं है। तो चोरी की जिसकी प्रकृति है ऐसे पुरुष का कोई साथी नहीं होता, कोई सगा नहीं होता।

श्लोक- 578

न जने न वने चेत: स्वस्थं चौरस्य जायते।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्क्य वधमात्मन:।।

चोर के चित्त की सर्वत्र अस्वस्थता- चोर का चित्त कहीं भी स्थिर नहीं रहता। मनुष्यों के बीच में बैठा है तो भी उसके चित्त में स्थिरता नहीं है, वन में जाय तो वहाँ भी निश्चिन्त नहीं है। आप कहेंगे कि चोर वन में क्यों जायेंगे? तो वे रहे कहाँ? वे वन में ही तो छुपकर रह पायेंगे। डाकुवों का स्थान वनघर है, साधुवों का भी स्थान वनघर है, पर डाकू तो वन में भयभीत रहा करते हैं और साधु आनन्दमय रहा करते हैं। उन चोरों का चित्त वन में भी निश्चिन्त नहीं रहता। जैसे किसी मृग के पीछे शिकारी लग जाय तो वह बहुत डरता है, विह्वल रहता है, पीड़ित रहता है, इसी प्रकार चोरों को भी अपने पकड़े जाने का भय बना रहता है तो वे स्थिर नहीं रह सकते। चोर के बोलचाल से, उसके रहन-सहन से भी प्रकट हो जाता है कि इसने चोरी की है। जो लोग चोर पकड़ने में कुशल हैं ऐसे पुलिस के लोग या समझदार लोग भाप लेते हैं कि इसकी चोरी की प्रकृति है और यह कहीं से चोरी कर लाया है। चोर का चित्त स्थिर नहीं रह सकता। घर में भी जो घर की झौंपड़ी उसमें भी उसका मन ठीक नहीं रह सकता। निरन्तर व्यग्रता है क्योंकि छुपकर पाप किया है।

अत्यन्त गोपनीय पद्धति का पाप- यह समझ लीजिए कि जो पाप इतना छुपकर करना पड़ता, जिसके सम्बन्ध में यह सोचा जाय कि यह किसी को मालूम भी न पड़ना चाहिए वह काम नियम से पाप है। आप कहोगे वाह कोई मनुष्य टट्टी जाता है तो वह किवाड़ बंद करके संडास में शौच करता है तो क्या वह भी पाप की बात है? अरे शौच तो वह बताकर भी जाता, लोगों को जताकर भी जाता, उसमें किसी का भी संकोच

नहीं, सब लोग समझ जाते कि यह शौच करने गया है तो वह पाप कैसे हुआ? और, जो चोरी आदिक पाप हैं उनमें तो उन चोरों का यह विचार रहता कि लोग जाने कि यह बड़ा सज्जन है, ईमानदार है, पर चोरी करने के लिए छुपकर जाता है, संकोच करता हुआ जाता है। ऐसी ही मैथुन प्रसंग की बात है। मैथुन प्रसंग करने वाला व्यक्ति छुपकर जाता है, संकोच करके जाता है पर घर के सभी लोगों को इस बात का पता रहता है कि यह इसका पति है, घर गया है, ऐसा सबको विदित रहता है। तो जिसके सम्बन्ध में किसी को पता भी नहीं पड़ सके किसी भी प्रकार ऐसे छुपकर जो कार्य होते हैं वे सब पाप हैं, अनर्थ हैं, जीव को संकट में डालने वाले हैं।

चौर्य से अनेक संकट- चोरी आदि अनर्थों से जीव पर सबसे बड़ा संकट यह है कि उसे निज ज्ञायकस्वरूप भगवान के दर्शन होने की पात्रता नहीं रहती। इस लोक में कहाँ सुख है, किसमें आप चित्त लगायें, कौन ठिकाना, ऐसा है जो आपको शान्ति ला दे, खूब निरख लो बाहर में। महल, फैक्टरी, दुकान या कोई भी समागम ऐसा है क्या जो जीव को शान्त बना सके? यदि लोक में बड़ी इज्जत हो रही है, बड़ी प्रशंसायें हो रही हैं उनको सुनकर भी वह अपने में आकुलताएँ ही मचाता है, अपने स्वरूप की सुध खो बैठता है; उससे बड़प्पन मानता है तो वहाँ क्या मिला इसे? धन वैभव मिल गया तो क्या मिला इसे? यह आत्मा तो अमूर्त है। भीतर में इच्छावों का त्याग करे तो शान्ति मिले। वैभव कितना ही सामने आ जाय उससे क्या शान्ति होती है? तो जिसको स्व और पर का विवेक नहीं है, पर के संचय में, पर के कारण ही अपना बड़प्पन माने ऐसा पुरुष अंधकार अज्ञान में पड़ा हुआ है, उसके विवेक नहीं है। ऐसे ही लोग परधन के हरण करने का भाव रखा करते हैं। तो चोर पुरुष का चित्त न तो मनुष्य के बीच में स्थिर रहता है और न अकेले वन में, न जंगल में कहीं पड़े रहने में स्थिर रहता है, वह निरन्तर भयभीत रहता है। कोई जान न जाय, किसी को भेद प्रकट न हो जाय, मुझे कोई पकड़ न ले और उस शिकारी द्वारा पीछा किए गए हिरण की नाईं वह सदा भयभीत रहता है और जगह जगह भटकता रहता है। अपनी रक्षा के लिए अनेक ठौर ढूँढ़ता रहता है।

अस्तेय महाव्रत से आत्मध्यान की पात्रता- चोर पुरुष को आत्मध्यान की पात्रता नहीं होती और आत्मध्यान ही जीव का शरण है, वास्तव में। किसी अन्य पदार्थ से, किसी अन्य समागम से जीव को कुछ लाभ नहीं है। तो वह ध्यान जगे उसके लिए यह आवश्यक है कि यह चोरी नामक पाप से अत्यन्त दूर रहे। सभी पापों से दूर रहने में आत्मा का कल्याण है। उसके ही प्रसंग में यह चोरी के त्याग का प्रकरण चल रहा है। साधुजनों के अचौर्यमहाव्रत होता है, अतएव वे निर्भय और निरन्तर प्रसन्न रहा करते हैं और ज्ञायकस्वरूप निज भगवान की उपासना के लिए उनकी उमंग रहा करती है तथा अपने आत्माभगवान का दर्शन पाकर वे प्रसन्न होते हैं और कर्मों से छूटने का वे उद्यम करते हैं।

श्लोक- 579

संत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम्।
वध्येयात्र ध्रियेयात्र मार्येयात्रेति शङ्कित:।।

अनादि से पर को शरण मानने की भूल- अनादिकाल से लोक में भ्रमण करते हुए इस जीव को आज तक कहीं भी कुछ शरण नहीं मिला। यद्यपि इस जीव ने मोहवश प्रत्येक पर्यायों में जो इसे मिला मोह करके शरण उसे माना। जैसे कि आजकल भी लोग अपने घर के कुटुम्ब को वैभव को शरण मानते हैं, उनसे हमारा हित है ऐसा विश्वास रखते हैं इस ही प्रकार इस जीव ने भव-भव में अनेक परद्रव्यों को शरण माना है, किन्तु यह अब तक भी शरण नहीं प्राप्त कर सका। सबका वियोग हुआ, और जितने काल रहे परपदार्थ उतने काल भी वे मात्र स्वयं में परिणमते रहे, मुझमें कुछ उत्पाद व्यय न कर सके, मैं ही भ्रमवश शरण की कल्पना करता रहा, तो वास्तव में तो इस आत्मा को बाह्य में कुछ शरण है नहीं। इसका शरण तो केवल आत्मस्वरूप ध्यान है। मैं यथार्थ क्या हूँ, इस प्रकार के सहज आत्मस्वरूप का श्रद्धान होना, ज्ञान होना और इस ही ओर लगना यही वास्तविक शरण है। यह इस जीव ने अब तक किया नहीं। अब इतना विशुद्ध कुल पाया, शासन पाया, नरभव मिला, अब भी यदि अपने हित के लिए कुछ चेतें, कुछ विचार करें तो भी भला है।

हमारा शरण आत्मदेव- हमारा शरण हमारे आत्मतत्त्व का ध्यान ही है। वह कैसे मिले, उसका उपाय इस ग्रन्थ में बताया जा रहा है। आत्मध्यान के अंग हैं तीन- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यही है वास्तविक मूल निधि। यदि यह रत्नत्रय न प्राप्त हुआ और ध्यान के लिए प्राणायाम करना, श्वास रोकना, अनेक क्रियायें भी कर रहे तो भी मोक्षमार्ग की बात नहीं मिल सकती। मुख्य अंग ये तीन हैं, सम्यग्दर्शन का अर्थ है स्वयं जो सम्यक् है अर्थात् अपने स्वरूप से जो यथार्थ है उसका उस ही रूप में श्रद्धान होना और उस ही रूप में ज्ञान चलना और ऐसा ही उपयोग बनाये रहना, ये तीन अंग ध्यान के पूरक है। उसमें सम्यक्चारित्र का यह वर्णन किया जा रहा है। सम्यक्चारित्र के प्रकरण में अहिंसामहाव्रत और सत्यमहाव्रत का वर्णन किया गया है। जिसका मूल प्रयोजन है ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का घात न होने देना और उस ही शुद्ध आत्मा के हित के वचन बोलना, यही है अहिंसा और सत्य। अब अचौर्यव्रत में यह कह रहे हैं कि जो पुरुष परधन को नहीं चाहता है उसके सम्बन्ध में विकल्प भी नहीं करता वह अचौर्यव्रत का धारी है और उसमें यह पात्रता है कि आत्मध्यान कर सके।

शङ्काशील पुरुषों में आत्मध्यान की अपात्रता- जो पुरुष परधन के हरण का प्रयत्न रखते हैं, उनके संताप उत्पन्न होता है, वे शंकित होकर जगह-जगह भटकते रहते हैं, मैं कहीं पकड़ा न जाऊँ, पीटा न जाऊँ, मारा न जाऊँ ऐसे चोर के चित्त में सदैव शंका रहती है और शंकाशील पुरुष ध्यान का पात्र नहीं होता। यद्यपि

प्राय: साधारण भी इज्जत वाला पराये धन को नहीं चुराता है लेकिन किसी भी अंश में चोरी सम्बन्धी विकार बना रहे तो निश्चय ही समझिये कि वह आत्मध्यान का पात्र नहीं है, और, चोरी पाप वही है सर्वत्र घटा लो कि जिस कार्य को करने पर मन में यह इच्छा बनी रहे कि इस कार्य का भेद किसी को न पड़े वे वे सब चोरियाँ हैं। केवल पराया धन हरने भर की बात नहीं है। जो जो भी बात गुप्त होकर करना चाहे, इसका किसी को रहस्य तक भी न मालूम हो, और किसी को इसका रंच तक भी न मालूम पड़े इस प्रकार की इच्छा करके जो भी प्रवृत्ति की जाती हैं वे सब चोरियाँ हैं। जब कभी पद के विरुद्ध कोई कार्य करता है उसको भी छुपकर करने का भाव रखता है वे सब चोरी हैं। जैसे किसी की बड़ी पोजीशन है वह बाजार में जाकर कहीं दूकान पर खड़े होकर चाट खाने लगे तो उसके चित्त में यह बात उठती है कि कोई देख न रहा हो, नहीं तो लोग क्या कहेंगे कि इतने बड़े साहूकार, इतनी पोजीशन वाले, ऐसे धर्मात्मा और ये बाजार में चाट खा रहे हैं तो यद्यपि अपने ही पैसों से खरीदकर खाया, किसी की चोरी नहीं की जा रही है लेकिन छुपकर खाने का भाव बने तो वह भी चोरी है। यों ही हर एक बात में समझिये।

मायाचरण में चौर्य की छाया- जो कार्य यह करता है वह किसी की भी समझ में आये ऐसे कार्य में नि:शंकता रहती है। वह है एक साधुव्रत। तो जो पुरुष चिन्ताशील रहता है, शंका के कारण आकुल-व्याकुल रहता है वह पुरुष ध्यान का पात्र नहीं है और जो सचेत रहता है, कोई नीच कार्य करने का भाव नहीं करता है वह आत्मध्यान का पात्र होता है। इस चोरी के ही प्रसंग में इतनी भी बात समझ लें कि धर्मकार्य के करते हुए भी जो अपनी मुद्रा, अपने वचन, अपनी चेष्टा को बदलकर और कुछ दिखाने का भाव किया जाता है उसमें भी चोरी का अंश है। जैसे मान लो कोई पुरुष मंदिर में खड़े होकर जैसा चाहे बोल रहा है, राग रागिनी को छोड़कर जल्दी-जल्दी यहाँ वहाँ को निरखकर अटपट बोल रहा है, सिलसिलेवार स्तुति नहीं कर रहा, लेकिन कोई दो चार आदमी आ जायें तो वह कैसा सावधान होकर बोलने लगता है, मुद्रा भी अपनी शान्ति और भक्ति की बना लेता है। तो पुरानी जो चेष्टा हो रही थी एक सहजस्वरूप की उसको बदलकर एक बड़ा भाव प्रदर्शित करता है, तो आप बतलावो इसमें कुछ मन चोरी जैसा परिणाम पा रहा या नहीं? तो आप समझिये कि हमारे व्यवहार में कितने ढंग से कितनी तरह के चोरी के परिणाम आते हैं। तो इस प्रकार के परिणाम वाले को आत्मा का ध्यान नहीं बनता है।

धर्मपालन से नि:शङ्कता की उद्भूति- नि:शंक वृत्ति होनी चाहिए, देखिये इसी कारण गृहस्थधर्म बताया गया है कि करना तो चाहिए महाव्रत का कार्य- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन 5 पापों का सर्वथा त्याग, पर इतनी सामर्थ्य न हो तो अहिंसाणुव्रत पालें। जैसे गृहस्थों को अधिकार है कि ठाठ से भोजन बनायें और खायें, खिलायें। आरम्भ का उनके त्याग नहीं है। अहिंसाणुव्रत लिए हैं, कोई साधु जिसने आरम्भ का त्याग कर दिया है, अहिंसा का सर्वथा परिहार किया है वह यदि कहीं नदी से या झरने से झरते हुए पानी को भी भरकर पीवे तो समझ लीजिए वह चोरी हुई। और, गृहस्थ वही कार्य करता तो वह चोरी में नहीं आया।

अचौर्य अणुव्रत उसने लिया है। तो गृहस्थ नहीं पाल सकता है महाव्रत तो अहिंसाणुव्रत, सत्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत ग्रहण किये हैं तो वह अपना कार्य तो नि:शंक कर सकता है। शंका रहना तो आत्मा की उन्नति में बहुत बाधक बात है।

गृहस्थ के दो मुख्य कार्य- गृहस्थ के मुख्य दो ही काम हैं- न्याय से आजीविका करना और धर्मसाधना करना। गृहस्थ को इतना साहस होना चाहिए कि न्यायवृत्ति से रहते हुए यदि हमें गरीबी की परिस्थिति भोगनी पड़े तो उसे भी सहन करेंगे, पर न्याय से, धर्म से चुकेंगे नहीं। हमें किसको अपना रुतबा दिखाने के लिए धन संचय करना है? कौन मेरा साथी है, कौन मेरी विपदा में सहायक है? कोई प्रभु है क्या यहाँ? फिर किसको अपना महत्त्व रुतबा दिखाने के लिए अटपट रूप से धन का संचय किया जाय? ऐसा उसका विशद भान रहता है अतएव न्याय से ही उसकी वृत्ति चलती है। न्यायवृत्ति से रहकर भाग्यवश जो कुछ प्राप्त हो उसही में अपनी व्यवस्था बनाने की कला गृहस्थ ज्ञानी में होती है। तो चोरी करके छुप करके कुछ भी प्रवृत्ति करने की प्रकृति बन जाय तो वहाँ आत्मा के उत्थान का और विकास का अवसर नहीं होता है।

श्लोक- 580

नात्मरक्षां न दाक्षिण्यं नोपकारं न धर्मतां।
न सतां शंसितं कर्म चौर: स्वप्नेऽपि बुद्धयति।।

परधनहरण के आशय में आत्मरक्षा के समझ की भी अपात्रता- जो चोर पुरुष है परधन का हरण करने के स्वभाव वाला है अथवा स्पष्ट रूप से भी परधन का हरण नहीं किया, किन्तु किसी भी अन्य रूप में परधन को हर लिया तो ऐसा पुरुष अर्थात् चोर पुरुष न तो आत्मरक्षा को जानता है कि हमारी रक्षा किसमें है और न उसमें चतुराई रहती है। न वह धर्म परोपकार आदिक कर्तव्यों को समझ पाता है और संत पुरुषों का जैसा कार्य करने की तो स्वप्न में भी उसे याद नहीं रहती है। चोर का चित्त निरन्तर चोरी में परधनहरण में मग्न रहता है, इस कारण वह उत्तम कार्य नहीं कर सकता। आत्मरक्षा है अपने आपको अधिकाधिक रूप से केवल ज्ञानमात्र सबसे न्यारा प्रतीति में बनाये रहने में। यह बड़ी मूल की बात कह रहे हैं। कितनी भी स्थितियाँ हैं, सबकी रक्षा करते, सबके बीच रहकर अनेक कार्य करने पड़ते, इतने पर भी सब ही भाईयों में एक बात तो अवश्य समानरूप से रहे और यह विचारें कि मुझे अपने आत्मा के यथार्थ सहजस्वरूप में ही निरखना है। वास्तविक और अन्तिम कल्याणभूत कार्य यही है, इस बात को वह पुरुष क्या जाने जिसका चित्त परधन के हरण में बना रहता है। चोर पुरुष आत्मरक्षा की बात को नहीं समझ सकता और न उसमें चतुराई आ सकती। चतुराई और विवेक की कला उसमें क्या होगी जिसके निरन्तर परधन हरण की बात

चित्त में रहती हो। यों समझिये कि परधन हरण की बुद्धि एक प्रकार से अत्यन्त कलुषित है। और जैसे मांसभक्षण करने वाले का चित्त निरन्तर कलुषित रहता है इसी प्रकार चोर पुरुष का चित्त कलुषित रहा करता है। वह पुरुष विवेक, बुद्धि, चतुराई, दया, परोपकार आदि संत पुरुषों के करने योग्य कार्य को कैसे कर सकता है।

आत्मातिरिक्त अन्यसंगों में असारता- अनेक भवों में भ्रमण करते-करते आज मनुष्य भव में आये हैं, तो यहाँ सार की बात क्या है, सो सोचिये। क्या महल खड़े कर देने में कुछ सारभूत बात मिलती है, अथवा कोई धन वैभव की बुद्धि कर लेने में सारभूत बात नजर आती है? लोगों के द्वारा कुछ अपना नाम, यश बढ़ा है इसमें कोई सारभूत बात समझ में आती है? ये सब स्वप्नवत् बातें हैं, ये सब पराये हैं। किसी भी पर से मेरे आत्मा का उत्पाद व्यय नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अपना अपना ही परिणमन रख रहा है। भले ही अशुद्ध उपादान वाले पदार्थ किसी अशुद्ध उपादान वाले पदार्थ का निमित्त पाकर विकाररूप परिणम जायें इतने पर भी जो विकाररूप परिणमा वह अपने ही परिणमन से परिणमा। किसी वस्तु का किसी भी वस्तु में अधिकार नहीं है, ऐसा तो यह स्वतंत्र जगत है, और यहाँ हम किन्हीं मलिन पुरुषों को प्रसन्न रखने के लिए ही अपना विकारपरिणाम बनायें तो यह कोई विवेक का काम नहीं है।

आत्मोपयोग के अर्थ प्रभुपूजा- विवेक यही है कि जिस किसी भी प्रकार बने यह अनुभव जगे कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ, ऐसा अनुभव जगने के लिए प्रभुपूजा की जाती है। प्रभु का स्वरूप केवल है, ज्ञानानन्दमात्र है, न वहाँ शरीर, न वहाँ विकार, न वहाँ कर्म, न वहाँ कोई तरंग है, ऐसी केवलज्ञान की शुद्ध तरंग चल रही है, जिसमें समस्त लोकालोक स्पष्ट प्रतिभात होता है फिर भी उस सम्बन्धी विकल्प नहीं है ऐसा प्रभु का शुद्ध ज्ञानस्वरूप हमारी दृष्टि में आये तो अपने आत्मा की सुध होती है। तो अपने सहज आत्मतत्त्व की सुध लेने के लिए अर्थात् मैं केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ ऐसा ही अनुभव बनाने के लिए प्रभुपूजा की जाती है।

आत्मोपयोग के गुरूपास्ति एवं स्वाध्याय- गुरुवों की उपासना का भी यही उद्देश्य है। गुरुजनों की सेवा इसलिए की जाती है कि ये गुरुजन भी उसी एक पथ पर चल रहे हैं, अर्थात् मेरे आत्मा का मुझे दर्शन परिचय बना रहे, मैं अपना अनुभव किए रहूँ, ऐसी बात इन गुरुवों के चल रही है तो इनके निकट बैठकर और इनकी सेवा में रहकर हमें भी वैसी ही दृष्टि प्राप्त हो, जिससे हम भी अपने को सब जगत से न्यारा केवलज्ञानरूप मान सकें। इसीलिए गुरु सेवा की जाती है। स्वाध्याय भी इसीलिए है। हम किन्हीं भी अनुयोग के ग्रन्थों को पढ़े तो पढ़ने का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मैं स्व का अध्ययन कर लूँ, मैं यथार्थ निरपेक्षरूप में कैसा हूँ, मेरा सहजस्वरूप क्या है ऐसा मैं अध्ययन कर लूँ उस बात का रहस्य निकाल लूँ ऐसी दृष्टि रखकर स्वाध्याय किया जाता है।

आत्मोपयोग के अर्थ संयमन- जो नाना संयम किये जाते हैं- इन्द्रिय का संयम, अमुक चीज न खाना, अमुक इन्द्रिय के भोग का त्याग करना आदिक प्रकार से जो इन्द्रिय संयम चलता है उसका भी प्रयोजन यही है कि हमारा असंयम में चित्त न जाय। अविरत के काम में हमारा उपयोग न फंसे, संयमरूप रहे तो मैं अपने आत्मा की सुध रख सकता हूँ। तब अपने आपको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करने का ही सबसे बड़ा काम है और आप इसे बिल्कुल सत्य निर्णय करके मानें कि मैं यदि यह अनुभव की कला प्राप्त कर सका तो मैंने वास्तविक अमीरी प्राप्त कर ली। मोक्षमार्ग मिल जाना, इससे बढ़कर भी कुछ है क्या लोक में? बड़े बड़े जन भी राजा महाराजा करोड़पति लोग भी प्रभु के चरणों में आते हैं और मोक्षमार्ग की बात चाहते हैं और किसी को मोक्षमार्ग की बात मिल जाय, चाहे पूर्व कर्मवश परिस्थिति कैसी ही हो, दरिद्रता भी आ जाय लेकिन एक यह अनुभूति कला प्रकट हो जाय तो वही वास्तविक अमीरी है और वह संसार के सारे संकटों का त्याग कर अपने आपमें सत्य विश्राम पायेगा, निर्वाण पायेगा। तो संयम भी आत्मरक्षा के लिए किया जाता है।

आत्मोपयोग के अर्थ तपश्चरण- तपश्चरण भी आत्मरक्षा के प्रयोजन से किया जाता है। विषय कषाय के विकल्पों में चित्त बना रहे, यह दु:खदायी है, इस परिणाम से हमें निवृत्त होना है तो क्या उपाय करें? ऐसी प्रेरणा बनाना है कि बार बार जो विषयों में चित्त लगता है क्या उपाय किया जाय कि इनसे उपयोग हटे। तो उसका एक उपाय तपश्चरण भी है। अनशन, ऊनोदर, कायक्लेश, गर्मी सर्दी आदिक सहन करना आदिक बातें केवल उपयोग बदलने के लिए कारण बनती है। यदि अन्तरङ्.ग में ज्ञान है तो यह आत्मध्यान वहाँ बन लेगा। तो तपश्चरण भी इसीलिए करना होता है कि मैं अपने आत्मा को शुद्धज्ञानस्वरूप अनुभव कर लूँ।

आत्मोपयोग के अर्थ दान- दान की पद्धति एक आत्मरक्षा के लिए है। जो वैभव निकट है उस वैभव से ममत्व न रहे तब ही तो आत्मा की सुध रख सकते हैं। ऐसे गृहस्थ की बात बताई जा रही है जिसे इस परिग्रह से ममत्व नहीं रहता। आवश्यककार्यों में द्रव्य प्रदान करने में रंच भी हिचकिचाहट नहीं है क्योंकि उसे परिग्रह से मोह ही नहीं है, जो परिमाण करके रख रहा है वह गृहस्थी के कर्तव्य के नाते रख रहा है, सो उसे यह पूर्णतया विदित है कि जितना भी परिग्रह हो उतने में ही गुजारा किया जा सकता है। कोई यह बता सकता है कि गृहस्थ का गुजारा कितना वैभवशाली बनने पर हुआ करता है? उसकी बाहरी रूपरेखा है क्या? वह तो अपने मन की बात है और मूल की बात है; जो हजारपति हैं वे भी अपना गुजारा कर लेते हैं कि नहीं? जो करोड़पति हैं वे भी यह महसूस करते हैं कि हमारा ठीक गुजारा चल नहीं पाता है। तो यह तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ में कला है कि जो कुछ भी वैभव प्राप्त हो उसमें ही वह धर्महेतु भी निकालता है और अपना गुजारा भी करता है। उसे परवाह नहीं है। वह किसी भी परिस्थिति में अटक नहीं मानता। उसे तो केवल एक आत्मानुभूति की रुचि जगती है। तो समझ लीजिए कि मनुष्यभव पाने का मुख्य काम है आत्मरक्षा।

परधनाभिलाषा में आत्मरक्षा की असंभवता- जो पुरुष परधन के अभिलाषी हैं वे आत्मरक्षा नहीं कर सकते, अतएव सूक्ष्मरूप में भी, अतिचाररूप में भी हम चोरी के दोष के पात्र न बनें, इस ओर हमारी दृष्टि होनी

चाहिए और वह दृष्टि तभी बनेगी जब हम सही निर्णय कर लें और यह संकल्प कर लें कि हमें तो सही आचरण से ही रहना है, हमें किसी अन्य को प्रसन्न नहीं करना है। हम अपने आपको प्रसन्न कर सकें, निर्मल बना सकें, अपने आपके स्वरूप में उपयोग लगाकर अपने को प्रफुल्लित बना सकें तो वह मेरा सही पुरुषार्थ है। सारे जगत को क्या बतलाना? कोई किसी को प्रसन्न कर ही नहीं सकता। कोई प्रसन्न होगा, कोई अप्रसन्न होगा तब ऐसी स्थिति में जो सही काम हो वही किया जायेगा ना। उस सही काम के होने पर कोई प्रसन्न होता हो तो हो, हमें तो अपने आपके परिणाम निर्मल रखना है, सबका हित सोचना है और अपने आपको धर्ममार्ग में, ध्यानमार्ग में, अनुभवमार्ग में लगाना है, और सही ऐसा काम करने वाले के ज्ञानी पुरुष तो अवश्य अनुयायी होते हैं।

श्लोक- 581

गुरवो लाघवं नीता गुणिनोऽप्यत्र खण्डिता:।
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निधनं गता:।।

चोर संसर्ग से लघुता- चोरपुरुष कीसंगति से बड़े-बड़ेमहापुरुष भी लघुता को प्राप्त हो गए और गुणी पुरुष खण्डित किए गए और मुनिजन चोर के संसर्ग से मारे भी गए। जहाँ चोर का निवास हो या जिस जगह साधु विराजे हों वहीं चोर भी रहता हो तो चोरी के संसर्ग से उन साधुवों पर भी आपत्ति आ सकती है। होती है ना ऐसी कल्पना कि ये भी इसी में शामिल होंगे और इसी के छिपाने के लिए इन्होंने यह भेष रख लिया होगा। तो साधुजन भी गिरफ्तार किए जा सकते हैं। तो जो चोरी करने अथवा अन्य प्रकार से भी दुष्ट प्रकृति रखते हों उनका संसर्ग भी दोष को उत्पन्न करता है। तो सत्संगति की भी बड़ी सावधानी रहनी चाहिए।

स्वाध्याय और सत्संगति का विशेष कर्तव्य- हम आपको करने के लिए दो ही तो काम खास पड़े हुए हैं। व्यवहार की बात कह रहे हैं कि स्वाध्याय आदिक से ज्ञानार्जनकरना और सत्संगति करना यह व्यवहारधर्म पंथ चलाने के लिए और आत्मा की सच्ची समझ लेने के लिए ये दो कर्तव्य पड़े हुए हैं। केवल एक धन के व्यामोह में ही अपने इस जीवन को न गंवाया जाय। उसे ही मुख्य काम न समझा जाय। इतना ज्ञान उत्पन्न करना ही चाहिए, नहीं तो मनुष्य होकर कार्य क्या किया? मेरा मुख्य काम तो धर्मसाधना का है और यह काम भाग्य के अनुसार होता है। जो परिस्थिति होगी उसी में ही गुजारा किया जा सकता है यह तो गुजारे के लिए है, पर धर्म की बात न होगी तो यह आत्मा के भव-भव के संकट के लिए है। अतएव इस परिग्रह से व्यामोह कम करना और धर्म के पंथ में लगने का उत्साह भरना यही करने का हम आप सबका कार्य है।

श्लोक- 582

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम्।
चौरं विज्ञाय नि:शङ्कं धीमन्तोऽपि धरातले।।

आत्मदेव पर अन्याय- भगवान के समान विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव वाले इस आत्मा भगवान को किसी भी परपदार्थ की ओर रुचि जगना यह एक आन्तरिक पाप है, जिसे मोह और मिथ्यात्व कहते हैं। कहाँ तो इस आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान और आनन्दरूप है और कहाँ ज्ञानानन्दस्वरूप से चिगकर अपने को ज्ञानहीन और आनन्दहीन मानकर किसी परपदार्थ से आनन्द की भीख चाहना, आशा करना, यह कितना महान पाप है और अन्याय है इस भगवान आत्मा पर। इसके बाद अब द्वितीय श्रेणी में चलिये तो लोकव्यवस्था में जिसे धन समझा गया है अर्थात् जिस मकान में रहते हैं, जो वैभव दुकान को संभाले हैं उन्हें तो लोकव्यवस्था में माना जाता है कि यह हमारा धन है और जो दूसरे मनुष्य के आश्रय हैं, ऐसे घर वैभव माने जाते हैं कि ये पराये हैं, यहाँ पर भी जो पराये वैभव पर, परधन के ग्रहण करने की दृष्टि लगाये, इच्छा करे और कदाचित् कोई प्रवृत्ति करे तो सोच लीजिए कि यह भी कितना महान अन्याय है, ऐसा अन्याय करने वाले को ही चोर कहते हैं।

पर को निज मानना चोरी- परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा के निजस्वरूप को छोड़कर देह को और घर को, परिवार को अपनाना, अपना समझना यह एक चोरी है क्योंकि वहाँ परवस्तु को अपनाने की कोशिश की है। व्यवहारिक चोरी में भी और होता क्या है? दूसरे के घर में रखे हुए धन को अपना लेना यही तो होता है। जो कल तक दूसरे की चीज कहलाती थी आज उसको कोई हर ले, अपनी बना ले तो इसे ही चोरी कहते हैं। परवस्तु को अपनी बना लेने का नाम चोरी है। परमार्थदृष्टि से देखो तो आत्मा का आत्मा के स्वरूप को छोड़कर सब कुछ पर है। उस पर को अपना मान लेना यही है चोरी। आध्यात्मिक चोरी तो यह है। इस चोरी में रहने वाले अर्थात् अज्ञानी मोही पुरुषों को भी आत्मा के ध्यान की पात्रता नहीं रहती, और फिर जो व्यवहारिक चोरी में भी चलते हैं वे तो ध्यान की पात्रता से अधिक दूर हैं।

चोर की अप्रतिष्ठा- चोर पुरुष की लोक में प्रतिष्ठा नहीं होती। कोई जानने में आ जाय कि यह पुरुष चोर है तो उस पुरुष को बड़े बड़े बुद्धिमान पुरुष भी इस तरह पकड़ लेते हैं और उसे मारने पीटने लग जाते हैं। जैसे कि किसी तृण को कोई पकड़ ले और तोड़ कर फेंक दे, ऐसे ही चोर पर भी कोई दया नहीं करता। कोई चोर को पीटता हो और उसे बचाने वाला कहे कि भाई इसे क्यों पीटते हो, और वह पीटने वाला उसकी उस चोरी की घटना को बता दे तो वह भी यही कहता है कि ठीक है पीटना ही चाहिए। तो यह तो

एक व्यवहारिक चोरी की बात कही जा रही है। इसकी प्रवृत्ति वाले पुरुष के और अध्यात्म चोरी का परिणाम रखने वाले पुरुष के आत्मध्यान की पात्रता नहीं जगती।

आत्मध्यानरूप धर्म का शरण- लोक में शरण केवल आत्मध्यान है। कहते भी हैं- केवलि पण्णत्तां धम्मां सरणं पव्वज्जामि, मैं केवली भगवान के द्वारा कहे गए धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। वह धर्म क्या है जो केवली भगवान के द्वारा कहा गया है? वह है आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव के अवलम्बन अर्थात् आत्मा का ध्यान। एक आत्मध्यान ही शरण है, ऐसा निर्णय करके अन्य तत्त्व में, अन्य समागम में अपने उपयोग को न फंसायें। सब कार्यों को गौण समझें और एक आत्मरक्षा का आत्मध्यान का कार्य ही हमारे लिए मुख्य है ऐसा अनुभव करें।

श्लोक- 583

विशन्ति नरकं घोरं दु:खज्वालाकरालितं।
अमुत्र नियतं मूढा: प्राणिनश्चौर्यचर्विता:।।

परधनाभिलाषा से आत्मपतन- यह अचौर्यमहाव्रत का प्रकरण चल रहा है। ध्यान के अंगों में 5 महाव्रतों का क्रम से वर्णन हो रहा है, उसमें यह अचौर्यव्रत का प्रकरण है। चोरी करने वाला मूढ़ पुरुष नियम से घोर दु:ख वाले नरक में प्रवेश करता है। परधन को हरने के जो अभिलाषी हैं या अन्याय करके, दगा देकर किसी भी प्रकार से जो पर की चीज को ग्रहण करने के अभिलाषी हैं उनके ये बातें उन्हें आत्मध्यान से पतित करने वाली हैं। इसको हम यों ही अनुभव कर लें कि हमारा उपयोग किसी परपदार्थ की ओर अन्याय से उसे ग्रहण करने की ओर चले तो हम अपने धर्म से कितना अधिक गिर गए। इसीलिए श्रावकों को सबसे पहली बात यही कही है कि वे न्याय से धन कमावें कदाचित् किसी परिस्थितिवश कुछ विवश होकर न्याय से गिरना पड़े तो भी यह ध्यान तो रखना ही चाहिए कि हम न्याय से गिर रहे हैं। इस ध्यान के रखने में वह अन्याय में उतर नहीं सकता। और, कभी ऐसी भी स्थिति बन सकेगी कि वह अपने जीवन में न्याय से कभी चूक न सकेगा। तो प्रत्येक व्यवहार में हमें न्यायप्रिय जरूर होना चाहिए। जिसे न्याय प्रिय नहीं है, अपनी स्वार्थवासना से अपने विषयपोषण के लिए अपने कषाय की पूर्ति के लिए यत्न करे, दूसरों के प्रति कुछ भी न सोचे और अन्याय का भी प्रयोग करे तो भला बतलावो कि इस विधि में उसने आत्मा का कौनसा लाभ लूट लिया।

न्यायप्रिय मानव में कल्याण की पात्रता- ये जगत के सब पदार्थ विनश्वर हैं और ये अन्याय से नहीं मिलते, पूर्वकृत पुण्यकर्म का जो उदय है उसके उदय में प्राप्त होते हैं। जो मिलने को है सो मिलता है, अन्याय करके तो और उस पुण्य में कमी कर ली जाती है। जो विशेष मिलना था उससे यह कम रह गया। न्याय से रहने में कदाचित् पूर्व पाप के उदय में हमें वैभव में सफलता भी नहीं मिलती तो भी आत्मसन्तोष तो

उसके होता ही है और निकट काल में ही उसके दु:ख के दिन भी खतम हो जाते हैं। मनुष्य को न्यायप्रिय होना चाहिए। न्याय प्रियता की जो प्रसन्नता हमारे आपमें है वह इतनी उत्कृष्ट प्रसन्नता है कि इसके प्रसाद से प्रभु के दर्शन प्रसन्न हृदय वाला भी वही पुरुष हो सकता है जिन्हें इस तत्त्व का बोध होता है। उस पर चलने वाले उससे लाभ लेते हैं। केवल एक ज्ञान कर लेने मात्र से वह आनन्द नहीं जगता। उस पंथ पर अपना साहस बनाकर विपत्तियों को झेलकर चलने वाले पुरुष उसका लाभ लूटते हैं। जैसे किसी वस्तु का ज्ञान कर लेने पर केवल एक जानकारी बना लेने पर उसका स्वाद नहीं आ जाता है, उसके खाने पर स्वाद का अनुभव होता है। जानकारी भले ही हो जाय पर अनुभूति उसमें लगने से होती है, इसी प्रकार यह दृढ़ निर्णय कर लें कि इस मनुष्य का भला न्याय से ही है- अन्याय से नहीं है। अन्याय करने वाले का चित्त अन्तरङ्ग में दुखित रहता है और वह अपने आपको तो समझ ही रहा है कि मैंने अन्याय किया है। कदाचित् कोई दूसरा पुरुष न भी जान सके उसके मायाचार को, उसकी अन्यायवृत्ति को, लेकिन यह खुद आत्मा भगवान जिसने अन्याय किया है वह तो समझता है कि मैंने यह अन्याय किया है। उसके प्रसन्नता का प्रसाद रोज नहीं चमक सकता है। तो अपने जीवन में इस बात को समझें कि हमें न्यायप्रिय ही होना चाहिए।

न्यायप्रियता से धर्म की प्रभावना- धर्म की प्रभावना भी न्यायप्रियता के कारण हो सकती है। जो धर्म जीवों का भला कर सकता है उस धर्म की प्रभावना भी उस पुरुष ने की समझिये जो न्यायप्रिय होता है। जो न्यायप्रिय होता है उसकी जनता भी प्रशंसा करती है और जनता कहती है कि यह उत्कृष्ट धर्म को मानने वाला है। न्यायप्रिय मनुष्य प्रभावना अंग का पालन करने वाला है। सम्यग्दर्शन के अंग में अष्टम अंग है प्रभावना का अंग। प्रभावना कैसे बनती है, प्रभावना के लिए क्या करना चाहिए?

इसके लिए दो प्रकार से वर्णन किया है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने तो बताया है कि जनता को अज्ञानरूपी अंधकार से हटाकर फिर यथायोग्य जैनशासन का माहात्म्य फैलाना इसका नाम प्रभावना है। जैसे किसी धार्मिक समारोह में हजारों रुपया खर्च किया, बहुत सा समय भी लगाया पर लोगों के पल्ले कुछ नहीं पड़ा तो वह प्रभावना नहीं कही जा सकती। हमारे हित का मार्ग क्या है, धर्म का स्वरूप क्या है यह बात पल्ले पड़े तो वह प्रभावना मानी जाय, नहीं तो उसे एक दिलबहलावा का काम समझिये। अमृतचन्द्रसूरि ने तो सर्वार्थ सिद्धि में कहा है कि आत्मा का प्रभाव बढ़ना चाहिए रत्नत्रय के तेज से, इसी का नाम प्रभावना अंग है, अर्थात् अपना ऐसा शुद्ध ज्ञान और आचरण रखें कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का हममें विकास बने, इससे अपने आत्मा का भी प्रभाव बढ़ता है और लोक में भी प्रभावना अंग पलता है। तो आनन्द तो धर्मप्रभावना में है।

अनात्मभाव की उपेक्षा से अचौर्यव्रत की उपासना- जो पुरुष अपने आत्मा को ही यह मैं हूँ और आत्मस्वरूप को ही यह मेरा स्वरूप है, यही मेरा वैभव है ऐसा मानकर परवस्तुवों से उपेक्षा भाव करता है, पर को पर समझ लेता है वह तो अचौर्यव्रत का एक महान उपासक है, और व्यवहार में पराये वैभव को पर जानकर

उसको ग्रहण करने का भाव न रखे और उसे लेने के लिए अन्याय की भी कोई कल्पना न करे वह भी लोक में महिनीय पुरुष है, इसके विरुद्ध जो चोरी की प्रकृति वाले लोग हैं वे इस लोक में भी दु:खज्वाला से पीड़ित होते हैं और परभव में भी नरकादिक गतियों में वे दु:ख भोगा करते हैं।

श्लोक- 584

सरित्पूरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु।
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा।।

परपरिहार में कल्याण साधना- हे आत्मन् ! यदि अपना कल्याण चाहते हो, आत्मप्रसन्नता चाहते हों तो सर्वत्र रखे हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए, भूले हुए धन को मन, वचन, काय से ग्रहण करना छोड़ दो। नदी, नगर, पर्वत, गाँव, वन, घर, जल, किसी भी जगह कोई परधन पड़ा हो, उसे ग्रहण करने की मन में आशा न रखो। देखो- जब कभी सद्गृहस्थ अपने ही वैभव से प्रयोजन रखता है और सन्तुष्ट होता है, किसी भी मनुष्य के, किसी भी पर के धन को ग्रहण करने की, छुड़ाने की, लूटने की, कमाने की या अन्याय करके ग्रहण करने की वाञ्छा नहीं रखता तो वह कितना सन्तोष से घर में निवास करता है। जिनके तृष्णा लगी है उनका यही तो भाव है कि जिस किसी भी प्रकार हो, दूसरे का धन हमारे कब्जे में हो जाय। तृष्णा का और अर्थ क्या है? मैं बहुत बड़ा वैभवशाली बन जाऊँ, ऐसी मन में रटन लगाने वाले का और भाव क्या है, किसी भी प्रकार से धन का संचय हो जाय। और सद्गृहस्थ वह है, पुण्यात्मा वह है जो केवल अपने जीवन में एक धर्म धारण करने का ही मुख्य कार्य समझता है। ऐसे पुरुष के अनायास ही सरल उपायों से वैभव संचित हो जाता है और उस संचित वैभव का अधिकांश भाग पाठशालावों के चलाने में, अन्य-अन्य प्रकार से धर्म का प्रचार करने में व्यय होता है। धन वैभव की तृष्णा करना एक सद्गृहस्थ का मुख्य कार्य नहीं है, उसका मुख्य कार्य तो एक धर्म की उपासना करना है।

श्लोक- 585

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमै:।।

परधनपरिहार से संयमरक्षा- संयम प्रतिज्ञा की जिन्हें रक्षा करना हो उनका कर्तव्य है कि चेतन अथवा अचेतन समस्त परधन का परिहार करें। देखिये संयम त्याग का और भाव है क्या? उसका मुख्य भाव तो यह

है कि अपने आत्मा के गुणों के अतिरिक्त अन्य समस्त परभावों को पर जानकर उनमें अपना उपयोग न फँसाऊ। केवल मैं अपने आत्मा का ही ध्यान करके उसे ही दृष्टि में लेकर उसके शुद्ध प्रकाश में जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है उससे ही तृप्त रहूँ, संयम और त्याग ग्रहण करने का भाव यही हुआ करता है, फिर इसके विरुद्ध परवस्तुवों का अपनाना भी चल रहा हो और परधन को ग्रहण करने का मन में भाव भी चल रहा हो, तृष्णा भी बहुत-बहुत बढ़ रही हो तो वहाँ संयम और मर्यादा की रक्षा नहीं हो सकती। और साथ ही आसक्ति के कारण एक बहुत बड़ी बेचैनी बनी रहती है वहाँ आत्मा की सुध नहीं ले सकते।

आत्मपदार्थ की मंगलरूपता- देखिये जगत में जितने भी मंगल पदार्थ हैं उन सबमें उत्कृष्ट मंगल पदार्थ है निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूप में देखा हुआ अपने आपका आत्मपदार्थ। इससे बढ़कर मंगल की दुनिया में और कोई वस्तु नहीं है। खुद यदि प्रसन्न हों तो प्रसन्नता उसका नाम है। खुद के ज्ञान और साधना के कारण खुद में लगाव होने से जो एक उत्कृष्ट सन्तोष प्रकट होता है उसमें जो आनन्द जगता है वह तो एक खास वैभव है, वही मंगल है। मंगल उसे कहते हैं जो पापों को तो गला दे और सुख को उत्पन्न करे। भला आप बतलावो किसी भी परपदार्थ में ऐसी खूबी किसमें मिलेगी जो पापों को तो गला दे और सुख को उत्पन्न कर दे? बाह्यपरिग्रहों में तो यह बात नहीं है। हमारा पाप हमारे ही शुद्ध भावों से गल सकता है, किसी परपदार्थ के समागम से नहीं गल सकता है। जब हमारा उपयोग देवपूजा, गुरुसत्संग आदिक प्रसंगों में रहता है उस समय भी यह समझिये कि मेरे पाप को गलाने वाले ये मंदिर मूर्ति अथवा गुरु नहीं हैं, ये कारण हैं, निमित्त हैं, हम अपना ही परिणाम शुद्ध बना सकें तो पाप गलते हैं और हमें आत्मीय सुख प्राप्त होते हैं। प्रभु निष्पाप हैं, उनके कैवल्यस्वरूप को निरख करके हम अपने आपके स्वरूप का पता पाते हैं और विकारों से हटते हैं तब हमें सुख उत्पन्न होता है और हमारे पाप दूर होते हैं। तो मंगल लोक में मैं ही हूँ।

आत्मपदार्थ की लोकोत्तमता व शरणभूतता- इस लोक में उत्तम भी यह आत्मतत्त्व ही है। चाहे आत्मा कहो, आत्मतत्त्व कहो, आत्मधर्म कहो, या केवली के द्वारा कहा हुआ धर्म कहो, सबका मंतव्य एक है। लोक में उत्तम केवली प्रभु के द्वारा कहा गया धर्म है। उन्होंने क्या बताया कि प्रत्येक पुरुष को अपने आपका स्वभाव और उसका आलम्बन ही शरण है। तो निज स्वभाव का आलम्बन करना यह केवली भगवान ने धर्म बताया है। निज आत्मभगवान ही मंगल है, लोकोत्तम है और शरणभूत है। उस आत्मतत्त्व की हमारी निरख बहुत-बहुत काल बनी रहे, ऐसा उद्यम, ऐसा सत्संग बने तो इससे बढ़कर और कुछ वैभव की बात न होगी। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ परद्रव्यों की चाह करना यह हमें हमारे मार्ग से पतित कराने वाली बात है। अतएव जो मुक्ति के अभिलाषी हैं, आत्मकल्याण चाहते हैं, अपने संयम मर्यादा की रक्षा करना चाहते हैं तो वे चेतन अचेतन समस्त पर के आलम्बन को छोड़ दें, उनकी आशा न रखें, अस्तेयव्रत का पालन करें तो उनमें वह पात्रता बनेगी कि वे अपने आपका ध्यान बना सकेंगे और आत्मा भगवान की उपासना में अधिकाधिक रह सकेंगे।

श्लोक- 586

आस्तां परधनादित्सां कर्त्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम्।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये।।

विवेकियों की पर से परम उपेक्षा- बुद्धिमान आदमियों को पराये धन को ग्रहण करने की इच्छा करने की बात तो दूर रही किन्तु अपने दाँत धोने के लिए बिना दिये दातून तक भी पर को ग्रहण करना योग्य नहीं समझते हैं। किसी की बिल्कुल मामूली कीमत की चीज भी बिना दिये वे ग्रहण नहीं करना चाहते हैं। एक व्रत निर्वाह की मर्यादा होती है। जब कभी कोई आदमी किसी मर्यादा से पतित होता है या अन्याय में लगता है तो किसी बड़े अन्याय से या बड़े पाप से शुरू नहीं करता। छोटी-छोटी बातों से सीखता है और कभी बड़े पापों को करने लगता है। अस्तेय महाव्रत के प्रकरण में यह बात बताई जा रही है कि अन्य किसी बड़े वैभव को चुराना या उसकी इच्छा करना तो दूर रहो, तृण जैसी चीज को भी बिना दिये हुए ग्रहण नहीं किया करते हैं। पाप से बचकर रहने में आत्मा में एक सन्तोष और अनुपमबल प्रकट होता है। और, आत्मबल ही किसका नाम है? जितने अन्याय के कार्य हैं, पाप के कार्य हैं उनसे दूर बने रहना और न्यायपूर्वक अपने आपका जीवन बने इसमें ही आत्मबल बढ़ता है।

ज्ञानी का दृढ़ निर्णय- ज्ञानी गृहस्थ पुरुष सदैव इस बात में सावधान रहता है और अपना यह दृढ़ निर्णय बनाये रहता है कि मेरा इस जगत में मेरे आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ शरण नहीं है। देखिये जितना अपने स्वरूप के एकत्व की ओर आयें उतना तो आत्महित है और जितना परवस्तुवों में दृष्टि उपयोग गड़ायें रहें, उन्हीं-उन्हीं की चिन्ता में रहें, उनका ही मन में भाव रहे तो सोचिये तो सही कि अपना यह उपयोग अपनी जगह से हट गया या नहीं? अरे पर जगह लगा है तो यह अज्ञानवृत्ति कहलाती है। जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप की भावना से हटकर अन्य-अन्य पदार्थों में जुटा रहे उसका ही नाम अज्ञान है। अब अपनी जीवन चर्चा में सोचे कि हम अज्ञान का आदर करने में कितना समय लगाते हैं और निज ज्ञानस्वरूप भगवान का आदर करने में कितना समय लगाते हैं।

निर्लेपता से आत्मपवित्रता- मोहममता ही इस जगत के जीवों को बरबाद करने वाली वृत्ति है, उससे हटने की भावना और कोशिश अवश्य रहना चाहिए। यह तो एक गुप्त रहकर अपने आपमें की जाने वाली बात है। यह सब अपने अधीन बात है। सब कुछ बाहरी कार्य करते हुए भी हम अपने आपमें अलिप्त रह सकें, यह है अस्तेय व्रत का परमार्थ आदर। ऐसा क्या हो नहीं सकता? किसी सेठ की दुकान पर मुनीम कार्य करता है। उतनी चाहे सेठ में भी अक्ल न हो जितनी मुनीम के हो, दुकान की सारी व्यवस्था, हजारों लाखों का बैंक का हिसाब सब मुनीम ही रखता है, सेठ की सारी सम्पत्ति की रक्षा करता है लेकिन मुनीम के चित्त में यह बात

बैठी है कि इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक ड्यूटी बजा रहा हूँ। वह मुनीम उस सारी सम्पत्ति से बिल्कुल निर्लेप रहता है। ऐसे ही ज्ञानी गृहस्थ बड़े-बड़े वैभवों के प्रसंग में रहकर यह जानता रहता है कि मेरा मेरे से बाहर कुछ भी नहीं है। केवल एक लोकव्यवस्था के नाते चूँकि हम गृहस्थ हैं, अपना कर्तव्य निभाने के नाते इन सबकी रक्षा कर रहा हूँ, मैं परिवार के पोषण का कारण बन रहा हूँ, वस्तुत: मेरे कहीं कुछ नहीं है, ऐसी निर्लेपता ज्ञानीसंत गृहस्थ में भी हुआ करती है। और, इस भावना में ही उसने वास्तविक अस्तेय व्रत का पालन किया है अर्थात् चोरी से वह वास्तविक मायने में दूर रहा।

धर्मपालन की मुख्यता- जो समस्त परवस्तुवों को अपने से भिन्न निहारता है और अपने आपके ही ज्ञानानंद स्वरूप में ग्रहण करने का यत्न रखता है ऐसा पुरुष ही मोक्षमार्गी है और वह अपना जन्म सफल करता है। सच्चा पुरुषार्थ इतना ही है। हम सबका कर्तव्य है कि हम अपनी जिन्दगी का मोड़ बदले और इतना तो निर्णय रख लें कि मनुष्यजन्म में हम आये हैं तो यहाँ मुख्य कार्य हमारा धर्मपालन है, और, वह धर्मपालन भी यही है कि अपने सत्यस्वभाव की ओर झुके रहें, पर की चिन्ता विकल्प को दूर कर सकें। ऐसी आन्तरिक वृत्ति का यत्न करना ही वास्तविक धर्मपालन है। हम यह निर्णय बनायें कि पहला काम तो हमारा धर्म है, इसके पश्चात् आजीविका का काम है, परिवार की रक्षा का काम है, सारी व्यवस्थाएँ करने का काम है। ऐसा करने से न व्यवस्था में अन्तर आता है और न धर्मपालन में अन्तर आता है।

श्लोक- 587

अतुलसुखसिद्धिहेतो-र्धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च।
इह परलोकहितार्थं कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम्।।

अस्तेय के सर्वथा परिहारी का निकटभविष्य में कल्याण- अचौर्यमहाव्रत के प्रकरण में आचार्य महाराज उपदेश करते है कि यदि अनुपम सुख चाहते हो, धर्म, यश और चारित्र की रक्षा करना हो, इहलोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति करना हो तो चौर्यपाप में रंचमात्र भी चित्त को मत लगावो। यह मनुष्य केवल परधन की चोरी से दूर रहकर समझें कि हम पापों से अत्यन्त दूर हो गए, सो लोकव्यवहार में तो दूर हो गए, लेकिन किसी भी प्रवृत्ति को अपने अन्दर छुपाये रहना और बाहर में अपने को निरपराध, बुद्धिमान, धर्मात्मा साबित करना यह भी तो चोरी है और वह अपनी अध्यात्म की चोरी है, ज्ञान विवेक करके सर्व प्रकार की सूक्ष्म स्थूल चोरियों से दूर रहकर जो आत्मरस का पान करता है वह पुरुष मोक्षमार्गी है और अति निकट में निर्वाण को प्राप्त होगा।

श्लोक- 588

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढयम्।
विबुधजनशकुन्तै: सेवितं धर्मवृक्षं
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन।।

धर्मवृक्ष की व्रतमूलता- जिस धर्मरूपी वृक्ष को मुनियों ने बड़ी भक्तिभाव से संचित किया है, बढ़ाया है वह धर्मवृक्ष परधन में जरा भी चित्त जाने से जल जाया करता है। धर्मवृक्ष कैसा है? जिसका मूल तो विषयविरक्ति है अर्थात् व्रत है। पाँचों पापों का त्याग करना यह है धर्म की जड़। जड़ उसे कहें कि जिसके पोषण से सारा वृक्ष हरा भरा रहता है। तो पापों के त्याग से ही धर्म हरा भरा रहता है। धर्म नाम और किसका है? जो छोड़ने के पाप हैं उनका छोड़ना यही धर्म का मूल से पालन है। तो धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है व्रत भाव।

धर्मवृक्ष की संयम शाखायें- इस वृक्ष की शाखा क्या है संयम की बड़ी-बड़ी शाखायें, नाना प्रकार के संयम इन्द्रियसंयम। वे भी 6 प्रकार के संयम हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश में न होना, अन्दर में कामभोग की ज्वाला जले तो उसके वश में न होना, यह है स्पर्शनइन्द्रिय का संयम। चटपट रसीले स्वादिष्ट भोजन की आशा न रखना, उसकी तृष्णा प्रवृत्ति न करना सो है रसनाइन्द्रिय का संयम, और, घ्राणेन्द्रिय के विषय से विरक्त रहना यह है घ्राणेन्द्रिय का संयम और नेत्र इन्द्रिय के विषय हैं रूप आदिक देखना। उन रूप आदिक के निरीक्षण में आसक्त न होना सो है नेत्र इन्द्रिय का संयम। इन्द्रिय के विषय हैं सुन्दर संगीत, रागभरे शब्द उनके श्रवण में राग न करना सो कर्णइन्द्रिय का संयम है। जगत में अपने नाम और यश की चाह बनाना, मेरी कीर्ति हो यह है मन का विषय, मेरा नाम अनेकों वर्ष चले, इस प्रकार का परिणाम न होना यह है मन का संयम। तो इस धर्मरूपी वृक्ष में संयम की ऐसी बड़ी-बड़ी शाखायें निकलती हैं, एक होता है प्राणसंयम। एकेन्द्रिय आदिक समस्त जीवों के प्राण की रक्षा करना यह है प्राण संयम। तो धर्मवृक्ष में ऐसे संयम की बड़ी-बड़ी शाखायें हैं।

धर्मवृक्ष के पत्र, पुष्प व फल- संयमवृक्ष में नियम आदिक के पत्र हैं। छोटे संयम बड़े संयम। मूल गुणरूप उत्तरगुणरूप नियमों का पालन ये हैं धर्मवृक्ष के पत्ते और वृक्ष में फूल होते हैं समता शान्ति के फूल, और ज्ञानलीला के फलों से भरा हुआ यह वृक्ष है। आखिर ऐसे धर्मवृक्ष से फल क्या मिलते हैं, ज्ञान की शुद्ध लीला। शुद्ध ज्ञान की सहज लीला में आनन्द ही आनन्द बसा है, धर्म का फल है शुद्ध आत्मीय आनन्द। उन आत्मीय आनन्द के फलों से यह धर्मवृक्ष हरा भरा है, और वृक्ष पर पक्षीगण बैठते हैं, वे पक्षी भी बड़े शोभनीय होते हैं। ऐसे ही पंडित, विद्वान, बुद्धिमान, विवेकी आत्मावों के द्वारा यह धर्मवृक्ष शोभित है।

अस्तेय के रंच परिणाम से भी धर्मवृक्ष का विनाश- ऐसे धर्मरूपी वृक्ष को चौर्य के रंच परिणाम से भी जला दिया जाता है, अन्य साधारण की तो बात क्या, बड़े-बड़े संत पुरुष भी एक चोरी का परिणाम आये तो उससे यह धर्मवृक्ष समाप्त हो जाता है। कितना सरल रहना चाहिए धर्मपालन के लिए उसकी झाँकी इस पद्य में दी गई है। जगत के जीवों से कुछ भी आशा न रखें और अपने जीवन में केवल धर्मपालन की मुख्यता मानें तो इस वृत्ति से सरलता प्रकट होती है। सरल पुरुष ही धर्मधारण करके मोक्षमार्ग में चलता है और वह निर्वाण को प्राप्त कर सकता हैं।

श्लोक- 589

जो अदत्त कछु लेत, ताको सगो न कोई ह्वै।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास परभव लहै।

परम तप ब्रह्मचर्य- समस्त तपश्चरणों में प्रधान तपश्चरण है ब्रह्मचर्य। आत्मा की पवित्रता ब्रह्मचर्य से होती है। कर्मों की निर्जरा का मुख्य साधन है ब्रह्मचर्य। जिस व्रत का आलम्बन करके योगीगण परमब्रह्म परमात्मा को जानते हैं तो अपने को परमात्मस्वरूप अनुभवते हैं और जिस व्रत को धीर वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं, वह है ब्रह्मचर्य नाम का महान व्रत। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा। उस आत्मा में ही अपने उपयोग का लगाना सो है ब्रह्मचर्य। देखिये किसी भी इन्द्रिय के विषय में गिरे तो उसमें ब्रह्मचर्य का घात है अर्थात् आत्मा में रमण न कर सका, किसी बाहरी पदार्थों में लग गया।

कुशील की प्रबल पातकता- ब्रह्मचर्य के घात का नाम है व्यभिचार। व्यभिचार नाम तो सभी बाहरी प्रवृत्तियों का है। आत्मा में अपना उपयोग स्थिर न रहे, बाहरी बाहरी विषयों में ही चित्त लगा रहे वे सब व्यभिचार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सबके सब व्यभिचार कहलाते हैं। लेकिन लोक में रूढ़ि एक स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन में अर्थात् मैथुन प्रसंग में, कामवासना की पूर्ति में लोग व्यभिचार शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे यह जानना कि समस्त इन्द्रियों में प्रबल और पातक विषय है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय अर्थात् कुशील नामक पाप एक ऐसा कठिन पाप है कि जिसमें रहकर मनुष्य रंच भी सावधान नहीं रह पाता। इसी कारण कुशील पाप को ब्रह्मचर्य का घात बतलाया गया है। वहाँ तो आत्मा के उपयोग से हटकर किसी भी बाह्य पदार्थ में रति करना सो व्यभिचार है। फिर भी रूढ़ि में एक विषयसेवन को ही व्यभिचार कहते हैं।

तात्पर्य यह है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय सबसे कठिन विषय है, उससे विरक्त रहकर एक परमार्थ ब्रह्मचर्य का पालन करना हैं।

परम हित ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य सब मनुष्यों को हितकारी है, गृहस्थ हों उन्हें भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्य से रहना हितकारी है और ब्रह्मचर्य की महिमा वहाँ है जहाँ मन, वचन, काय से ब्रह्मचर्य की साधना हो। किसी भी रूप में मन को डिगायें नहीं, कभी रागभरी वाणी बोलकर अपना दिल बहलायें नहीं। कभी किसी प्रकार की काय से कुचेष्टा न करें। मन, वचन, काय से ब्रह्मचर्य की जो साधना करें उनका निर्दोष ब्रह्मचर्य है।

शील का एक दृष्टान्त- एक पुराना कथानक है कि एक नगर में कोई बड़ा राजा रहता था। कोई मुगल राज्य के समय की बात है। उस राजा से किसी और बादशाह की लड़ाई हो गयी। उस युद्ध में राजा के पुत्र ने ऐसा कड़ा युद्ध किया कि सिर कट जाने पर भी धड़मात्र से 10-20 सिपाहियों को युद्ध में मार गिराया। ऐसा हो सकता है कुछ समय के लिए। अन्त में वह मर गया। बादशाह ने जब उसकी वीरता की कहानी सुनी तो वह सोचता है कि वह किसी बहादूर बाप का जाया हुआ पुत्र था। जब वह पुत्र इतना बहादूर था तो उसका बाप कितना बहादूर होगा? यही सोचकर उसने उसके बाप को अपने राज्य में बुलाना चाहा, इसलिए कि उसके द्वारा अपने यहाँ भी वीर संतानों की उत्पत्ति हो। किसी चतुर आदमी को उसके पास भेजा, वह राजा से जाकर कहता है कि बादशाह ने आपकी याद की है। वह चला, रास्ते में राजा पूछता है कि आखिर बादशाह ने किस बात के लिए याद किया है? उसने कहा- महाराज बादशाह ने यह निर्णय किया कि आपकी शादी हम अपने देश में किसी कन्या से करायेंगे और उससे वीर संतानों की उत्पत्ति होगी। तो उस बात को सुनकर राजा बोला कि यह तो तुम बतावो कि तुम्हारे बादशाह के राज्य में मेरे लायक कोई कन्या भी है क्या? कहा, महाराज एक से एक हैं, राजा बोला- एक से एक की बात नहीं कह रहे, जिस रानी से वहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसने सिर कट जाने पर भी धड़मात्र से बीसों सिपाही मार गिराये, उस रानी का चरित्र सुनो ! जब वह पुत्र 6 माह का ही था, घर में पालने में झूल रहा था तो रानी के कमरे में पहुँचने पर हमने कुछ शब्दों से मजाक किया तो उस समय उस 6 माह के पुत्र ने अपने हाथों से अपना चेहरा ढक लिया। तो रानी ने कहा कि तुम यहाँ मजाक करते हो, यह अन्याय है, देखो यहाँ पर पुरुष पड़ा है, उसने शरम के मारे अपना मुँह ढक लिया है। इतना कहकर रानी ने अपनी जीभ निकाली और अपने ही दाँतों से पीसकर अपनी जान खो दी। इतनी शीलवती कन्या यदि तुम्हारे बादशाह के राज्य में हो तो बतावो- उसने कहा- महाराज ऐसी कन्या होना तो कठिन है। तो प्रयोजन यह है कि ब्रह्मचर्य व्रत का मन से, वचन से और काय से पालन करें, यह धीर वीर पुरुषों का ही काम है।

ब्रह्मचर्य पालन की अभीष्टता- जिन्होंने अपने आत्मा के सहजशुद्ध स्वरूप का बोध किया है और जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में तृप्त रहा करते हैं, जिन्हें कभी अपने आपका अकेलापन निरखने को मिला है जिससे चुपचाप अन्दर में वार्ता करके तृप्त रह सकते हैं, ऐसी अपनी निधि जिन्होंने पायी है ऐसे धीर वीर संतों से

यह ब्रह्मचर्यव्रत पलता है। फिर भी ब्रह्मचर्य अणुव्रत गृहस्थजनों के होना अति आवश्यक है। जैसे जो पर्व के दिन हों अष्टाह्निका, दसलाक्षणी, सोलह कारण, अष्टमी, चौदस, ऐसे पर्व के दिनों में ब्रह्मचर्य व्रत रखें, और ऐसा नियम होना चाहिए कि एक माह में 25, 26, 27 दिन ब्रह्मचर्य से रहेंगे। ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा है।

श्लोक- 590

विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिन:।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम्।।

ब्रह्मचर्य के अतुल अधिकारी- इस व्रत के सम्बन्ध में बड़े-बड़े सहस्र जिह्वाधारी भी हों कोई तो भी इसकी महिमा का वर्णन नहीं कर सकते और जो इसकी महिमा समझना चाहते हैं वे इस ब्रह्मचर्य को अंगीकार करके ही समझ सकते हैं, फिर भी कुछ न कुछ वर्णन तो करना ही चाहिए। तो इस व्रत के वर्णन में आचार्यदेव कहते हैं कि मैं विस्तार के साथ कहूँगा, परन्तु सत्पुरुषों के इस व्रत के सम्बन्ध में अति विस्तार की वार्ता सुनकर देखकर रंच भी क्लेश न करना अर्थात् रुचिपूर्वक इस व्रत की महिमा को सुनना। जिसका होनहार उत्तम होता है वह पुरुष इस ब्रह्मचर्य व्रत में अंतरंग से प्रीति करता है। अकलंकदेव निकलंकदेव का उदाहरण प्राय: सबको विदित है। अकलंक निकलंक के पिता अष्टाह्निका के दिनों में किसी गुरु से ब्रह्मचर्य व्रत ले रहे थे। अष्टह्निका के 8 दिनों में उसी समय कौतूहलवश अपने दोनों नन्हे मुन्नों ने कहा कि तुम भी ब्रह्मचर्य व्रत लो। उन्होंने भी लिया। जब कई वर्ष गुजर गये तो उनके माता पिता उनके विवाह की बात करने लगे। तो अकलंक निकलंक ने कहा कि हमें तो आपने ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, अब यह चर्चा कैसी? तब माता पिता ने कहा कि व्रत तो अष्टाह्निका पर्व तक था, इस पर दोनों ने यह कहा कि हमने तो ब्रह्मचर्य का पूर्ण व्रत लिया था। सदैव के लिए व्रत लिया था, अष्टाह्निका के दिनों के ही व्रत का भाव रखकर हमने ब्रह्मचर्य न लिया था। इस लोक में मेरा तेरा कहकर कौनसी सिद्धि मिलती है? जिन्होंने धर्म के लिए ही अपना, तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्योछावर किया है ऐसे पुरुष ही स्वयं अपने आपका और जगत के जीवों का कल्याण कर गए।

परमकर्तव्यों से जीवन की महिमा- जो जन्म लेते हैं वे मरते अवश्य हैं। अब मरने के बाद में जीव का कुछ लाभ रहे तब तो अच्छा है और मरने के बाद पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा बन गए तो उससे क्या तत्त्व निकला? इसी प्रकार इस जीवन से लोक का यदि उपकार बने तो उसके जीवन की महिमा है। तो अपना जीवन सोपकार और परोपकार से भरा हुआ होना चाहिए। रही यह आजीविका की बात, तो इसका भी खुद निर्णय रखिये कि जिन जिनके भोगोपभोग में धन लगता है उनके पुण्योदय से इसका अर्जन होता है। जीवन वही सारभूत है जिस जीवन से अपना और पर का उपकार हो। अन्य बातें तो सब पुण्य पाप कर्मों के अधीन

हैं। कोई पुरुष दिनभर खूब श्रम करके 8-10 आने ही कमा पाता है और कोई पुरुष थोड़े ही प्रयास से अपने कारोबार को निरखता है और उसके विशेष आमदनी चलती है। तो इसका कारण क्या है अन्तरङ्ग में? वह है सब पुण्य का उदय अनुदय। तो उसकी ओर से तो मुँह मोड़ना चाहिए और फिर चाहे जो स्थिति बने, सभी स्थितियों का मुकाबला कर सकते हैं ऐसा जिसके मन में साहस हो वही पुरुष धर्म का सेवन कर सकता है। जो सम्पदा की चाह करे, विपत्ति से घबड़ायें ऐसा पुरुष कहा धर्मवृक्ष का सेवन कर सकता है।

सावधानी की अत्यावश्यकता- अपने आत्मा को पवित्र बनाना यह सबसे ऊँचा काम है, इसका सम्बन्ध अपने आपसे है। आत्मलाभ इसी में है। हम आज मनुष्य हुए, हमने जैन शासन पाया, हृदय की बात दूसरे को समझा सकते, इतना श्रेष्ठ समागम किसी पुण्योदय से ही प्राप्त हुआ है, नहीं तो अनेक पशु, कीड़े, मकौड़े सब तो फिर रहे हैं, ये भी तो जीव हैं। जैसे हम हैं वैसे ही ये भी हैं। क्या हमने ये पर्यायें न प्राप्त की होंगी? और, यदि अब भी न चेते तो क्या ये पर्यायें प्राप्त न होंगी? सभी जीव समान हैं, पर आज हमने जो एक विवेकयुक्त भव पाया है तो यों समझिये कि एक विशिष्ट पुण्य का फल मिला है। अब इस पुण्यफल को पाकर नहीं चेतते हैं तो उसी पुण्य पर हम कुठाराघात कर रहे हैं। यह सब व्रतों के सिरताज ब्रह्मचर्य व्रत की बात चल रही है।

श्लोक- 591

सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम्।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेश: कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम्।।

ब्रह्मचर्य की उपास्यता- तीन जगत में ब्रह्मचर्य नाम का व्रत ही प्रशंसा करने के योग्य है, क्योंकि जिन आदमियों ने इस व्रत को निर्मलता और निरतिचारपूर्वक पालन किया है वे बड़े-बड़े पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजे जाते हैं। ब्रह्मचर्य के पूर्णधाम तो अरहंत भगवान हैं। जहाँ समस्त शील परिपूर्ण हुए हैं उन समृद्धिशाली पुरुषों की पूजा मुनि और गणधर आदिक सभी करते हैं। ब्रह्मचर्य से विवेक बुद्धि स्थिर रहती है, चित्त में बल रहता है, और चूँकि वह एक परमतपश्चरण है, तो ब्रह्मचर्य के प्रताप से कर्मों की निर्जरा चलती रहती है। ब्रह्मचर्यव्रत की पूर्णता तो साधु महाराज के होती है और गृहस्थ पुरुषों के अणुव्रत होता है, इसका नाम स्वदारसन्तोष भी है, यह अति आवश्यक है गृहस्थों को कि वे केवल अपनी स्त्री में ही सन्तोष रक्खें। स्वस्त्री के साथ भी काम की आसक्ति न रखें और परस्त्री के सम्बन्ध में तो चित्त रंच भी न डिगे, और अधिकाधिक समय ब्रह्मचर्य में व्यतीत करें।

ब्रह्मचर्य से निजब्रह्मोपलब्धि- ब्रह्मचर्य की साधना इस ब्रह्म प्रभु को प्रसन्न करने के लिए है। जो ब्रह्म में लीन होने का यत्न करते हैं उन्हें परमात्मा से भेंट होती है। विषयकषायों में फंसने वाले महापुरुषों के प्रभु के दर्शन नहीं प्राप्त होते। जो परविषयों में आसक्त रहते हैं उनको केवल क्लेश ही भोगने को मिलते हैं। यह आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर है। जरा अपने को अकेला निरखो तो सही, शरीर से भी न्यारा ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसी बारम्बार भावना तो कीजिए। इस निज भावना में अतुल आनन्द बसा हुआ है। और इस ही आनन्द में यह सामर्थ्य है कि अष्टकर्मों को नष्ट किया जा सकता है। हम अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करें, अपने पैरों पर खड़े हों, अपने आपकी दृष्टि का स्वावलम्बन पायें तो यह ही संसार में हम आपका शरण है। किसी परवस्तु का मोह केवल दु:ख को ही उत्पन्न करता है।

श्लोक- 592

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्विशुद्धिं समापन्ना: पूज्यन्ते पूजितैरपि।।

ब्रह्मचर्यव्रत का जयवाद- ब्रह्मचर्य नाम का महान व्रत जयवंत प्रवर्तो। यह ब्रह्मचर्य महाव्रत चारित्र का एक मात्र जीवन है। इस ब्रह्मचर्य व्रत के बिना अन्य जितने भी गुण हैं, अन्य जितने भी धार्मिक आचरण हैं वे सब क्लेश के ही कारण होते हैं। जीव को अपने आपमें सन्तोष मिले ऐसी प्रवृत्ति करने में ही जीव का हित है, बाह्यपदार्थों की दृष्टि से सन्तोष सम्भव नहीं है, क्योंकि बाह्यपदार्थ बाह्य हैं, उनका परिणमन उनके साथ है, उनका सदैव संग नहीं रहता है और यह उपयोग अपने आपमें केवल कल्पनाएँ बनाया करता है तो बाह्य पदार्थों में इसे सन्तोष नहीं उत्पन्न हो सकता। सन्तोष मिलेगा, आनन्द मिलेगा तो जीव को अपने आपमें ही मिलेगा। उस आनन्द की प्राप्ति का उपाय है अपने ब्रह्मस्वरूप का सत्य ज्ञान करना, श्रद्धान करना और उसमें ही रम जाना, एतदर्थ यह आवश्यक है कि व्यवहारब्रह्मचर्य की साधना की जाय। ब्रह्मचर्य का विघात एक मोह और मूढ़तावश ही किया जाता है। ब्रह्मचर्य न हो और उपवास तपश्चरण क्लेश बड़े बड़े काम भी किये जायें वे सब निष्फल हैं।

श्लोक- 593

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम्।
स्यु: सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम्।।

दुर्धर व्रत ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य एक दुर्धर व्रत है, अपने आपको पवित्र बनाने वाला है, मोही मलिन प्राणियों से आशा न रखने की प्रेरणा देने वाला है। यह व्रत अल्प बल वाले पुरुषों से नहीं निभ सकता है, इसके लिए बहुत विवेक चाहिए, ज्ञानबल चाहिए। जिनकी प्रकृति तुच्छ है, जिनका स्वभाव निम्न है, ऐसे पुरुषों के द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत नहीं निभ सकता। जो पुरुष शील स्वभाव से रहित हैं, जिनके विचार उच्च नहीं हैं, तुच्छ जिनकी आकांक्षायें हैं ऐसे पुरुष इस ब्रह्मचर्य व्रत को नहीं निभा सकते। जिनका सत्संग अच्छा है, चाहे वह घर का ही सत्संग हो, वे पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत की भावना बना पाते हैं। जैसा अनेक घरों में जैसा पुरुष वैसी ही स्त्री, दोनों ही ब्रह्मचर्य व्रत के रुचिया हो तो उनका भी सत्संग सत्संग कहलाता है। जो शील स्वभाव से रहित पुरुष हैं वे ब्रह्मचर्य को निभाने में असमर्थ हैं।

ब्रह्मचर्य व ब्रह्मचर्यघात के परिणाम- ब्रह्मचर्य से विवेक बढ़ता है, बुद्धि बढ़ती है, पुण्य बढ़ता है, संसार के अनेक वैभव सुखसाधना बढ़ते हैं। इस जगत से आँखें मींचकर अपने आपमें अपने प्रभु को निहारकर एक इस ब्रह्म की उपासना कीजिए और सही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कीजिए। जो दीन पुरुष हैं, जो इन्द्रिय के वश हैं उनके ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं होता। दीन वे कहलाते हैं जो इन्द्रिय के विषयों के अधीन हैं। जो दूसरों से आशा रखें वे ही बुद्धिहीन कहलाते हैं। जो कामवेदना के वश होकर अन्य पुरुष स्त्री से अपने सुख की अभिलाषा रखते हैं उनके आत्मा में दीनता का भाव आ ही जाता है। बड़ी शक्ति के धारक पुरुष ही ऐसे दुर्धर व्रत को धारण करने में समर्थ होते हैं।

श्लोक- 594

नाल्पसत्तवैर्न नि:शीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितै:।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरै:।।

मैथुनप्रकारों की संख्या- ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतिपक्षी भाव है मैथुन, कामसेवन। यह एक स्त्रीसंग का ही नाम नहीं, किन्तु वह भी है और इसके पहले भी 10 प्रकार के भाव होते हैं, वे सब भी कामसम्बन्धी भाव समझना। इस कारण जो पुरुष स्त्री से विरक्त हैं अथवा जो स्त्री शीलसम्पन्न हैं उन सबको 10 प्रकार के कामसेवनों का परित्याग करना चाहिए। वे 10 मैथुन प्रकार क्या क्या हैं? इसका वर्णन कर रहे हैं।

श्लोक- 595

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा।।

मैथुन का आद्य दोष- प्रथम मैथुन है शरीर का सजाना, श्रृंगार करना, बहुत बढ़िया बाल रखना, और जैसे आजकल चल रहे हैं लिपिस्टिक, पाउडर वगैरह लगाना, खूब तड़क-भड़क के कपड़ों से अपने शरीर को सजाना, ये सब शरीर के संस्कार हैं। खूब मलमल के शरीर को धोना, घंटों तक स्नान करना, तेल फुलेल लगाना, बहुत-बहुत इस शरीर की संभाल करना, बहुत-बहुत साज श्रृंगार करना, रूपक बनाना, ये सब ब्रह्मचर्य के दोष हैं। इससे ब्रह्मचर्य घात का किसी न किसी अंश में पाप लगता ही रहता है। फिर दूसरी बात यह है कि शरीर श्रृंगार से बढ़कर फिर यह मनुष्य एक गरल वृत्ति में बढ़ जाता है, इस कारण अपना जो नियत काम है उसे खूब कीजिये। आजीविका का, परोपकार का, धर्म का काम करें, अपने हितकार्यों में लगे रहें, शरीर को अधिक सजाने श्रृंगार करने की ओर दृष्टि न दें। हाँ स्वास्थ्य के लिए जितना लाभदायक है साधारण सात्विक भोजन करें, साधारण वस्त्र पहिने और धर्मधारण की धुन में रहें। शरीर का संस्कार करना यह प्रथम नम्बर का मैथुन बताया गया है।

मैथुन का द्वितीय व तृतीय दोष- दूसरा मैथुनप्रकार है पुष्ट रस का सेवन करना, बहुत बढ़िया मिष्टान्न पकवान वगैरह खाना, अनेक प्रकार की रसीली स्वादिष्ट चीजों का सेवन करना इस उद्देश्य से कि बहुत बल बढ़े और विषय सेवन की अधिक उत्तेजना जागृत हो यह दूसरे नम्बर का दोष है। कामवासना के उद्देश्य से ये स्वादिष्ट रस भोगे जाते है। काम वासना का परिणाम नियम से कलुषित है। यह दूसरे प्रकार का मैथुन सेवन है। और बहुत-बहुत रस रसायन स्वादिष्ट भोजन अनेक प्रकार की औषधियों का भोजन करना भी पाप है। तीसरा मैथुन प्रकार बताया है गीत नृत्य आदिक का सुनना देखना। भगवान के भजन के समय जो गीत नृत्य आदिक होते हैं वे तो धर्म से सम्बन्धित हैं, उनमें सुनने वालों को धर्मदृष्टि रखना चाहिए। यदि कोई वहाँ ही केवल रूप, रंग, गान, तान, कला इन पर ही दृष्टि रखे तो वह भी अपने उद्देश्य से च्युत है। फिर अन्यत्र गान, तान देखने का शौक होना और जैसे अब तो अनेक प्रकार की कम्पनी थियेटर वगैरह ऐसे चलते हैं जिनमें केवल रूप, रंग, गान, तान की बात दिखती है, जिसमें केवल कामसेवन का प्रसंग है। वे सब तो अत्यन्त अयोग्य चीजें हैं, जिनकी प्रकृति गीत, नृत्य आदिक से अपने मन को प्रसन्न करने की रहती है तो समझिये कि वह प्रवृत्ति भी ब्रह्मचर्य के दोष रूप है।

मैथुन का चतुर्थ प्रकार- चौथा मैथुन प्रकार है स्त्री का संसर्ग करना अर्थात् बोलचाल रखने का प्रसंग रखना, इसमें ब्रह्मचर्य का दोष है। सीधा मार्ग तो यह है कि गृहस्थ हैं तो अपनी आजीविका के कार्य में रहे, शेष समय सत्संग और धर्मपालन में रहे, यह कामसेवन कामवेदना का भोग एक बहुत बड़े पाप का फल है, जिसमें मनुष्य अपनी सब बुद्धि खो बैठता है और अपना सारा समय बरबाद कर देता है।

श्लोक- 596

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते।।

योषिद्विषयसंकल्प: पञ्चमं परिकीर्त्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कार: सप्तमं मतम्।।

पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्।।

मैथुन का पांचवाँ प्रकार- पांचवें प्रकार का मैथुन है, स्त्री सम्बन्धी किसी प्रकार का संकल्प या विचार करना या याद करना। इसको कहते हैं मनोज। काम का दूसरा नाम है मनोज। जो एक मन से खोटी वेदना उत्पन्न होती है वह कहलाता है मनोज। जैसे किसी मनुष्य को भूख लगी है तो कोई खासकर समझमें वाली वेदना है, ठीक है उसकी पूर्ति कर लें, खाकर भूख मिटा लें, वह वास्तव में वेदना है। शरीर में कोई रोग हो गया है, बुखार खाँसी वगैरह हो गयी है, हाँ वह वास्तव में एक वेदना है, उसका इलाज कर लें, फिर जैसे इस शरीर की वेदनाएँ हुआ करती हैं इस तरह की कोई दिखने में समझ में आने वाली कामवेदना है क्या? वह तो एक मन का संकल्प है। जिस क्षण किसी भी समय अचानक उदय खराब हो जब मन में कल्पना उठ बैठती है तो यह एक घृणित वेदना है, काल्पनिक वेदना है। इसके बिना शरीर का कुछ अटका नहीं है, शरीर के अन्दर कोई वेदना हो तो उसे दूर करें, लेकिन असद्विचारों से, अविवेक से जो एक कामभावना उत्पन्न हो जाती है वह एक घृणित भावना है और उसमें मनुष्य मरकर अपने जीवन के समय को बरबाद कर देता है।

मैथुन का छठवाँ प्रकार- 6 वाँ ब्रह्मचर्य का दोष है स्त्री के अंगों का निरखना। इस प्रकरण में यद्यपि पुरुषों को लक्ष्य में लेकर समझाया जा रहा है क्योंकि साधुवों के समझाने के लिए यह ग्रन्थ है अतएव पुरुष जैसे समझ जायें उस प्रकार से समझने की दृष्टि से वर्णन किया गया है, पर ब्रह्मचर्य तो दोनों के लिए आवश्यक है, तो उसके मुकाबले में स्त्रियों की ओर से वर्णन का ढंग भी समझते जायें। तो स्त्री के अंगों का निरीक्षण करना यह भी ब्रह्मचर्य का दोष है।

प्राप्त सुयोग की दुर्लभता- देखो ये इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं बड़ी कठिनता से। अब तक के संसार जीवन में अनन्त काल तो इस जीव का निगोदपर्याय में व्यतीत हुआ, जहाँ पेड़, पृथ्वी जल जितना भी इनका अस्तित्त्व न था। वहाँ से निकला यह जीव तो अन्य स्थावर हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय हुआ। क्रमश: ये होना बड़ा कठिन था। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो गया। तो मन बिना कुछ भी न करने में समर्थ रहा। विवेक ही नहीं है, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ तो उसमें भी नाना खटपट हैं। उनमें प्रधान हैं मनुष्य। और, फिर भी जैनशासन मिला, पवित्र धर्म मिला तो यहाँ ऐसा उत्कृष्ट समागम पाकर हमें इन इन्द्रियों का सदुपयोग करना चाहिए।

श्रोत्र और नेत्रों का सदुपयोग- हमें कान मिले हैं तो हम चाहे अच्छी राग भरी बातें सुन लें या धर्मोपदेश सुन लें, जो चाहे कर सकते हैं, पर रागभरा द्वेषभरी बातों से सुनने से तो जीवन का दुरुपयोग है। धर्मोपदेश श्रवण करने से विषयों से निवृत्त होने की प्रेरणा मिले और अपने आत्मस्वरूप में लीन होने का संकल्प बने, ऐसी वाणी सुनना ही योग्य है। हमें कर्ण मिलें हैं तो धर्मोपदेश के सुनने में, धार्मिक चर्चा के श्रवण में इनका सदुपयोग करें। नेत्र मिले हैं तो देवदर्शन, शास्त्रस्वाध्याय, गुरुदर्शन, गुरुसेवा, इनमें इन नेत्रों का उपयोग करें। इससे आत्मा में एक परिणति विशुद्धि जगती है और विशेष पुण्य का बंध होता है धर्म का मार्ग मिलता है। हम इन इन्द्रियों का इस तरह सदुपयोग करें। तो नेत्रों से स्त्री के अंगों का निरीक्षण करना यह ब्रह्मचर्य का दोष है। यह भी एक प्रकार का मैथुन है।

मैथुन का सातवाँ प्रकार- ब्रह्मचर्य के 7 वें दोष का नाम हैं संस्कार बनाना। जैसे पुराण में सुना होगा कि किसी राजपुत्र ने किसी राजकन्या को देखा तो वह इतना विह्वल हो गया कि उसने खाना पीना तक छोड़ दिया और निर्लज्ज होकर स्पष्ट शब्दों में यों कह दिया कि जब तक यह न मिलेगी तब तक हम भोजन न करेंगे। यह है इस संस्कार का परिणाम। देखिये जब कभी अपने को दु:ख आता है, चिन्ता होती है तो उसका बारबार स्मरण करें तो वह वेदना दूनी बढ़ती जाती है। और, उस बात को भूल जाय, कहीं और जगह अपना उपयोग लगाये तो उसमें यह वेदना समाप्त हो जाती है। जिसके चित्त में देखे हुए रूप का संस्कार बना है वह उसकी याद रखे तो वह एक कामवेग का 7 वाँ प्रकार है।

श्लोक- 597

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्।।

मैथुन का अष्टम नवम व दशम प्रकार- 8 वें क्रम में बताया है कि पूर्व के भागे हुए भोगों का स्मरण करना भी मैथुन है। कितनी व्यर्थ की बातें हैं। जो समय गुजर चुका उस गुजरे हुए समय में कैसे आराम से

रहता था, कैसे भोग प्रसंग में रहता था, इन बातों की याद रखना भी एक अपने हृदय को मलिन बनाना है। तो यह भी एक दोष है। 9 वाँ वेग है भविष्यकाल में भोगने का चिन्तन करना, आशा प्रतीक्षा करना और उसका एक स्वप्न जैसा देखना, यह 9 वाँ काम का भोग है, 10 वाँ भोग है विषय में पतित हो जाना। ये 10 प्रकार के मैथुन प्रसंग जीव के अहित करने वाले हैं।

सर्व मैथुनों से निवृत्ति में हित- जो आत्मकल्याण चाहते हैं वे इन दसों दोषों से बचें और आत्मकल्याण की उपासना में अपना चित्त लगायें। देखिये जगत में अन्यत्र कहीं भी कोई अपना शरण रक्षक नहीं है। समस्त बाह्य पदार्थों के प्रसंग एक विह्वलता के ही कारण बनते हैं, आत्मदया के लिए अमूल्य जीवन का कुछ समय जरूर लगाना चाहिए। केवल धन कमाने, अपना नाम पोजीशन रखने, अपने विषय कषायों की पूर्ति करने में ही समय गुजर गया तो इससे आत्मा का हित नहीं है। आत्महित है आत्मा की चर्या करने में, आत्मा का स्वरूप समझने में। आत्मस्वरूप जिसने पाया है अथवा जो आत्मस्वरूप के ज्ञाता हैं ऐसे ज्ञानी पुरुषों का सत्संग करें, चित्त अपना धर्म के लिए रहे तो पवित्रता बनी रहेगी और कर्म कटेंगे, आकुलता दूर होगी। जितना हम इन चेतन अचेतन पदार्थों के संसर्ग में रहेंगे, उनसे मोह बढायें, उनसे आशा रखें तो इन दुर्भावनाओं के कारण दूसरों के उपकार का भी बहाना बनायें, लेकिन ये सब दुर्भावनाएँ आत्मा को पतित करने वाली हैं और नरकगति में पहुँचाने वाली हैं।

ब्रह्मचर्य का परमफल- ब्रह्मचर्य एक दुर्धर व्रत है, लेकिन इसका फल परम्परया नियम से निर्वाण है। शुद्ध ब्रह्मचर्य की भावना ज्ञानी पुरुषों के ही बन सकती है। क्या करना है, क्या हमारा कर्तव्य है, किसलिए हम जी रहे हैं, जरा निर्णय तो कीजिए, मरण सबका आयेगा। जगत में जो जन्में हैं उनका मरण नियम से है। मरने के बाद फिर जन्म न मिले यह तो हो सकता है पर जन्म के बाद मरण न हो यह कभी नहीं हो सकता। जहाँ मरण के बाद जन्म नहीं होता उसही का नाम निर्वाण है और ऐसे आत्मा का ही नाम परमात्मा है जिसका अब जन्म न होगा और न मरण होगा। अब सोचिये कि स्वप्नवत संसार है या नहीं। कुछ समय की जिन्दगी है। कुछ समय को लोग दिख रहे हैं और यहाँ भी कोई रक्षक है नहीं, सभी अपने-अपने स्वार्थ में रत हैं। ऐसे इस स्वार्थी संसार में हमें दुनिया को क्या बताना है और यह कितने समय का बताना है? मरण होगा तब हम आगे क्या रहे, किस प्रकार हमारा जीवन व्यतीत हो, कुछ इसकी भी तो सुध रखनी चाहिए। आत्मदया का नाम है आत्मकरुणा। विषयों से दूर रहने में और आत्मस्वरूप के निकट रहने में आत्मकल्याण भरा हुआ है। इसके विरुद्ध यह संसार अपने स्वरूप से तो दूर हो रहा है और बाह्यपदार्थों के निकट पहुँच रहा है, यही इसके क्लेश का कारण है।

श्लोक- 598

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते।

एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये।।

मैथुन की दुर्विपाकता- यह मैथुन प्रसंग, यह काम भोग इन्द्रायण फल की तरह है। इन्द्रायण फल देखने में भला, सूँघने में भला और खाने में भला, किन्तु जो इन्सान इस फल को खा लेता है उसकी मृत्यु हो जाती है, उसमें हलाहल विष भरा हुआ है, इसी तरह यह काम मैथुन है। यह कुछ काल पर्यन्त सोचने में भला, भोगने में भला, कुछ सुखदायक सा मालूम होता है, किन्तु इसके विपाक के समय में बहुत ही भय और क्लेश उत्पन्न होता है। सब धर्म एक ब्रह्मचर्य की नींव पर खड़े हुए हैं। इस धर्म के लिए जितना जो कुछ भी करें, दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, विधान, बड़े-बड़े उत्सव समारोह पंच कल्याणक और अनेक व्रत तपश्चरण आदिक ये सब ब्रह्मचर्य होने पर शोभा देते हैं। ब्रह्मचर्य का तो व्रत न हो, अन्धाधुन्ध कामवासना बना करती हो और फिर इन व्यवहारिक आचरणों को करे तो उन आचरणों से इस आत्मा का हित होता है?

धर्मपालन का फल परमविश्राम- धर्मपालन का उद्देश्य तो यह है कि यह मैं आत्मा अपने आत्मस्वरूप में स्थित होऊँ, बाहर में दुनिया में सर्वत्र विकल्प ज्वालायें बनी हुई हैं, संकट ही संकट समाये हुए हैं, हम अपने से च्युत होकर बाहर में कुछ दृष्टि लगाते हैं, कुछ सम्बन्ध बनाते हैं तो वहाँ क्लेश ही क्लेश उत्पन्न होते हैं, सुख शान्ति का नाम निशान नहीं है। तब कर्तव्य यह है कि हम बाह्य पदार्थों का संकल्प-विकल्प तोड़कर कुछ क्षण अपने आपमें विश्राम लें। देखिये- जब शरीर थक जाता है तो ढीलेढाले सोकर विश्राम लिया जाता है। सब काम रोककर शरीर को विश्राम में रखकर थकान मिटाई जाती है और यहाँ यह आत्मा नाना विकल्प मचा-मचाकर अनेक चिन्ताएँ शोक बना बनाकर, सोच सोचकर थक गया हो तो ऐसे आत्मा के विश्राम का क्या उपाय है? सो बतावो। भले ही बड़े कोमल गद्दे तकिया लगे हों, आसपास बड़े सुगन्धित पुष्प आदिक सजाये गए हों, बहुत सुन्दर हवा का प्रबंध हो, जलपान का अच्छा प्रबन्ध हो, सब तरह के आराम हों, नौकर-चाकर भी जीहजूरी में खड़े हों, सब तरह के आराम में रहकर भी धन वैभव के संचय की चिन्ता है तो गद्दा तक्की में पड़ा हुआ भी वह चिन्तित है। गद्दा तकिये वगैरह से विश्राम किसी को न होगा। विश्राम तो सही ज्ञान होने पर मिलता है। तो अपना कर्तव्य है कि सर्व संकल्पविकल्पों को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप को निरखें और एक बहुत बड़ा विश्राम प्राप्त करें। जो विलक्षण है, अनुपम आत्मीय आनन्द को देने वाला है ऐसे विश्राम करने का ही नाम है परमार्थ से ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्यव्रत से परमपवित्रता- तो जो परमार्थ ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है उसका कर्तव्य है कि वह मन से, वचन से, काय से इस व्यवहार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। ब्रह्मचारी सदा शुचि:। ब्रह्मचारी पुरुष सदा पवित्र होता है। सूतक पातक निर्णय में बताया है ना। किसी के जन्म का इतने दिन का सूतक है, मरने का इतने दिन का पातक है किन्तु व्यभिचारी पुरुष और स्त्री के सदैव सूतक पातक रहता है, वह कभी शुद्ध नहीं कहलाता। तब समझ लीजिए कि ब्रह्मचर्य के विपरीत कुशील करने वाले को सदैव पातक बताया गया

है। ब्रह्मचर्य से आत्मा में पवित्रता बढ़ती है, आत्मबल बढ़ता है, पुण्य बढ़ता है, शान्ति मिलती है, और वह पुरुष अन्य लोगों के द्वारा पूजा जाता है। बस एक धर्मपालन का ही अपना निर्णय बनायें, उसके अनुसार ही अपनी समस्त चर्या बनायें। इस मार्ग से हम आप सबको कल्याण प्राप्त होगा। भविष्य काल भी हमारा धार्मिक प्रसंग में व्यतीत होगा, समीचीन मरण होगा। यदि समतापूर्वक मर सके तो हमारा आगे का भव भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा। इन सबके लिए हमें इस ब्रह्मचर्यव्रत पर अधिकाधिक दृष्टि रखनी चाहिए और इस ब्रह्मचर्य के पालन का अधिकाधिक यत्न रखना चाहिए।

श्लोक- 599

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान्।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम्।।

मोह में यथार्थ अन्तस्तत्त्व के भान का अभाव- इस संसारी प्राणी ने रागद्वेष मोह के अधीन होकर काम और भोग में अब तक प्रवृत्ति ही की, इससे विरक्त होकर समस्त परभावों से विविक्त अपने आपके स्वरूप में एकत्वस्वरूप निज चैतन्य का भान नहीं किया और यही कारण है कि यह जगत में अब तक रुलता चला आया है। सभी जीव ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। जैसे किसी चीज का विश्लेषण करना है तो उसमें उसकी चीज दिखाई जाती है ना? चौकी कैसी है? तो चौकी का जो कुछ गुण है, परिणमन है, आकार प्रकार है वह बताया जाता है ना, इसी तरह आत्मा में क्या है, इस बात की खोज करें तो क्या बताया जायेगा? वह कहीं पुद्गल की भाँति, ढेला पत्थर की भाँति स्पर्शरूप नहीं है, वह कहीं पिण्डरूप नहीं है, आँखों देखने की चीज नहीं है फिर इस आत्मतत्त्व को हम किस प्रकार बतायें और निरखें? परपदार्थों का संकल्प विकल्प तोड़कर बड़े विश्राम से क्षणमात्र भी इसमें ठहरें तो इसे अपने आपमें उस परमज्योति के दर्शन होते हैं, जिसमें एक विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है। है यहाँ और कुछ नहीं, यह अमूर्त पदार्थ है, यहाँ केवल आनन्द का अनुभव होता है और वह आनन्द का अनुभव ज्ञानानुभूति के कारण है इस कारण आत्मा में परखने की कोई चीज मिलेगी तो वह ज्ञान और आनन्द मिलेगा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है व आनन्दस्वरूप है। कई लोगों ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप माना और कई दार्शनिकों ने आत्मा को आनन्दस्वरूप माना है। और, है यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, यह स्वरूप मोह में प्राणियों को विदित नहीं होता है।

आत्मतत्त्व की प्रतीति में ही सत्य सूझ की प्रगति- जो जानन प्रकाश है उस प्रकाश स्वरूप यह आत्मा है। यह सबसे न्यारा है, इसे कोई क्लेश नहीं है। सब पदार्थ विविक्त हैं, किसी के कुछ भी परिणमन से इस आत्मतत्त्व में कोई परिणति नहीं बनती है। यह आत्मा अपने आपमें ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर अपनी योग्यता के अनुसार परिणमन किया करता है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में कर्तव्य रंच भी नहीं है। ऐसा ही

ज्ञानस्वरूप यह आत्मा जो संसार में रुल रहा है और संसार के जिस किसी भव में यह जन्म लेता है तो उस ही भव को एक अपना सर्वस्व समझता है और उस भव के योग्य जो व्यवस्थायें हैं उनकी पूर्ति में ही अपनी बुद्धिमानी मानता है। यद्यपि गृहस्थावस्था में व्यवस्था की पूर्ति करना एक कर्तव्य है लेकिन दृष्टि में यही ही सर्वस्व नहीं है। इसे तो यह स्वप्न मानता है और गृहस्थी के सारे कर्तव्य उसे करने पड़ते हैं, पर चित्त में लगन तो एक आत्मतत्त्व की है।

ज्ञान का सौरभ आचरण- एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है अरहदास सेठ की होली कि अष्टाह्निका के दिनों में जब कि जनता नाना प्रकार के आमोद प्रमोद किया करती थी, राजा ने एक वनलीला का प्रोग्राम रचा और नगर भर में यह घोषणा करायी कि सब लोग नगर खाली कर दें। नगर की व्यवस्था सिपाही लोग करेंगे और वन में दो निवास बने हैं- स्त्रियों का अलग और पुरुषों का अलग। सभी लोग वनविहार का आनन्द लूटेंगे। यह घोषणा सुनकर अरहदास ने सोचा कि हमने अष्टाह्निका का महोत्सव में पूजन का काम शुरू किया है, इस समय हम कैसे इसे छोड़कर जंगल पहुँच सकेंगे। तो राजा के पास पहुँचा बड़े भेंट सम्मान सहित निवेदन करके कहा- महाराज हमने अष्टाह्निका में पूजन का व्रत लिया है। हम रात दिन धर्मचर्चा में लगे रहते हैं, इस बीच में हम कैसे जंगल पहुँच सकेंगे? तो राजा ने उस सेठ के परिवार को वन जाने से छूट दे दी। अब सब जनता तो वनविहार के लिए नगर छोड़कर पहुँच गयी, केवल अरहदास सेठ के घर में सभी लो रह गए। रात दिन धर्मचर्चा में उनका समय व्यतीत हो रहा था। उन्हीं दिनों में राजा की यह इच्छा हुई कि हम जहाँ रानियों का वनविहार है वहाँ जायें, तो मंत्रियों ने बहुत मना किया- महाराज आपने ही तो यह व्यवस्था बनायी और आप ही अब वनविहार के स्त्री निवास में जायेंगे तो यह बात युक्त न होगी। महाराज चलो नगर चलें, देखें कहाँ क्या हो रहा है? सो मंत्रीगण राजा का दिल बहलाते हुए नगर में ले गए। रात्रि का समय था। अरहदास सेठ के घर के पीछे छिपकर वार्ता सुनने लगे, वहाँ कोई वार्ता हो रही थी। अरहदास सेठ अपने सम्यक्त्व की कथा सुना रहा था। उसके 7 सेठानियाँ थी। सभी सेठानियाँ कहें ठीक, पर सबसे छोटी सेठानी कहे बिल्कुल गलत। यों सभी सेठानियाँ कथा कहें तो सभी कहें बिल्कुल सही, पर सबसे छोटी सेठानी कहे बिल्कुल गलत। कुछ कथा ऐसी भी थी जो राजा के घटना की थी। सभी सेठानियाँ सही-सही कहती थी, पर वह छोटी सेठानी झूठ बतलाती थी। राजा ने दूसरे दिन सेठ के घर के सभी लोगों को बुलवाया और कहा कि रात्रि की वार्ता में सभी सेठानियाँ तो सही-सही कह रही थी और छोटी सेठानी झूठ-झूठ कह रही थी, इसका न्याय करेंगे। राजा ने पूछा कि सभी सेठानियाँ तो उस कथा को सही कह रही थी और छोटी सेठानी क्यों झूठ कह रही थी? तो छोटी सेठानी ने उत्तर कुछ भी न दिया, उसने सारे वस्त्र आभूषण उतार कर रख दिये और यों ही एक धोती पहिनकर मौन सहित वन को चली गई। उसकी शान्त मुद्रा यह बता रही थी कि सत्य तो यह है।

प्रयोग से ही प्रयोग्य का विकास- किसी भी बात में उसका सही आनन्द तब तक नहीं आता जब तक कि उसमें कुछ प्रयोग नहीं बनता। कभी बने, यद्यपि जीव के साथ कषायों के वेग लगे हुए हैं, कभी चलित होता लेकिन कभी तो भान होना चाहिए जिसका स्मरण करके हम इस संसार में भयभीत न रह सकें। अपने आपमें नि:शंक और निर्भय रह सकें यह बात हो सकती है तो सम्यग्दर्शन होने पर। जो पुरुष काम और भोग से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य की उपासना करते हैं उन्हें आत्मध्यान होना सुगम है। एतदर्थ 10 प्रकार के मैथुन त्याज्य होने चाहिए अथवा त्यक्त हो ही जाते हैं। कामवेदना एक ऐसी तीव्र व्यर्थ की वेदना है अटपट जिसकी न जड़, न कारण, केवल मनोज है, मन में कल्पना उठी और कामवासना हुई। उस कामवासना में जो पुरुष रत है, ऐसे पुरुष के शुद्धि, पात्रता, ध्यान, ये नहीं बन सकते हैं, अत: अपने आपकी पवित्रता के लिए यह आवश्यक है कि हम ऐसा अपना उपयोग बनायें कि जिससे हमारा उपयोग निर्मल बना रहे और गंदी बातों के लिए चित्त ही न जाय।

सम त्रिवर्गसाधना में गृहस्थधर्म की पूर्ति- पुरुषार्थ चार होते हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। गृहस्थों को तीन प्रकार के वर्ग बताये गए- धर्म, अर्थ और काम। मोक्ष की बात इसलिए नहीं कही कि इस समय में मोक्ष पुरुषार्थ की साधना तो होती नहीं, निर्वाण होता नहीं- दूसरी बात मोक्ष के प्रसंग में आजकल जितनी बात की जा सकती है वह धर्म पुरुषार्थ में शामिल हो जाती है। आजकल हीन संहनन होने से मोक्ष पुरुषार्थ बनता नहीं है। और, गृहस्थों की बात कह रहे हैं- वहाँ त्रिवर्ग की प्रसिद्धि है, मोक्ष को अपवर्ग कहा है, जहाँ तीन वर्ग नहीं रहते, केवल मोक्ष ही रहता है उसे अपवर्ग कहा करते हैं। तो तीन वर्ग हुए, धर्म, अर्थ, काम। मोक्ष के एवज में चौथी बात कोई और ले लीजिए, जिसके बिना आपका काम न चलता हो और वह बात बड़ी सुहावनी भी लगे। चौथी चीज ले लीजिए निद्रा लेना, सोना। यह कितनी सुहावनी बात है। तो अब चार काम हो गए- धर्म, अर्थ, काम और निद्रा लेना। धर्म में धर्म पुरुषार्थ, पुण्य कार्य, ऐसे ऐसे शुभोपयोग के कार्य करना जिससे उपयोग उनमें ही लगा रहे। अर्थ के मायने आजीविका का कार्य करना और काम के मायने पालन-पोषण, परोपकार; दुनिया को सत्पथ में ले जाने का प्रयास, ये सब उनके पालनपोषण में, कामपुरुषार्थ में शामिल है। तीन बातें तो यों हुई। चौथी बात कही है नींद लेना। दिन रात में समय कितना होता है? चौबीस घंटे का। और काम कितने हैं? चार। तो 6-6 घंटे का समय चारों कामों में बाँट दीजिए, बिल्कुल ठीक विभाजन हो जायेगा। 6 घंटे धर्म के लिए, 6 घंटे अर्थ के लिए, 6 घंटे काम के लिए और 6 घंटे निद्रा लेने के लिए। देखो सुबह 4 बजे जब नींद खुलती है तब से 10 बजे तक धर्मकार्यों में रहें। इतने समय में महिलायें जो किसी त्यागी व्रती के लिए आहार दान का कार्य करती हैं वह भी धर्म पुरुषार्थ में शामिल है, 10 बजे से लेकर शाम के 4 बजे खूब धनार्जन का काम करें, नौकरी पेशा वाले हों, चाहे व्यापारी हों, चार बजे शाम से फिर दस बजे रात तक कामपुरुषार्थ में रहें अर्थात् देशसेवा, समाजसेवा, गृहसेवा, तथा उचित भोगोपभोग वगैरह के जो भी कार्य हैं उनमें रहें, इसके बाद दस बजे रात से फिर 4 बजे सुबह तक निद्रा

लेने अर्थात् सोने का काम करें। इस दिनचर्या में एक आध घंटे का समय आगे पीछे भी ऐसा रख सकते हैं कि जिससे सभी काम ठीक ठीक निपटते जायें। मतलब सारा यह है कि उपयोग ऐसे काम में लगायें कि अपना उपयोग निशुद्ध रहे और ब्रह्मचर्य के विरुद्ध कामवासना के समर्थक कोई विकार अपने में न जगें।

कर्तव्यशीलता से सफलता का लाभ-'प्रश्नोत्तरण मालिका' में लिखा है कि ''को बैरी नन्वनुद्योग:, इस जीव का बैरी कौन है? उत्तर देते हैं- उद्योग न करना, बेकार रहना। कई लोग ऐसा सोचते हैं कि हमारा कुछ ऐसा उदय आया है कि कोई काम ही नहीं निभता, किसी काम में सफलता ही नहीं होती। कोई काम ही नहीं है करने को, खाली बैठे हैं। अरे क्यों खाली बैठे हो? कोई काम नहीं है तो शरीर में दीन दु:खियों का उपकार तो कर सकते हो। आजकल तो ऐसे सेवक मिलते ही नहीं, लोग परेशान रहते हैं। तो यदि आप खाली बैठे हैं, आपके पास कोई काम नहीं है तो आप शरीर से दीन दु:खियों की सेवा कीजिए। उससे कितना लाभ होगा? समय का सदुपयोग होगा, लोगों की दृष्टि में इज्जत बढ़ेगी और इससे ऐसा मधुर वातावरण होगा कि पुण्य भी शीघ्र उदय में आयेगा। बेकार कभी भी नहीं बैठना चाहिए। किसी न किसी शुभकार्य में अपना उपयोग लगाये रहें, पूजा, स्वाध्याय, उपवास, सत्संग आदि ये सब शुभ कार्य हैं। इनमें अपना उपयोग लगा रहे। धनोपार्जन भी करें। यह तो है गृहस्थों की बात। और, साधु होकर, त्यागी होकर जो रहें उन्हें भी ऐसे शुभ कार्यों में व्यस्त रहना चाहिए। इसीलिए 6 आवश्यक कार्य साधुवों को भी बताये गए हैं- पूजन, वंदन, प्रतिक्रमण, सामायिक, स्तवन, स्वाध्याय। इन कार्यों में उन्हें व्यस्त रहना चाहिए। ऐसे कार्यों में उपयोग रहेगा तो ब्रह्मचर्य का निर्वाह सुगम होगा और फिर जिनकी दृष्टि अपने आत्मस्वरूप में लगी हुई है उनको तो ये दुर्धर महाव्रत भी एक लीलामात्र है। काम और भोगों से विरक्त होकर ब्रह्मस्वरूप की उपासना करना अपना हितकारी कर्तव्य है।

श्लोक- 600

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातै: प्लावितोऽप्यम्बुराशिभि:।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपित:।।

आत्मा की महनीयता का उपाय ब्रह्मचर्य- काम के प्रकोप से उत्पन्न हुए विकार को जीतने के लिए ऐसा ज्ञानाभ्यास, ऐसा उपयोग बने जिससे कामविषयक दोष और संसर्ग न हो अर्थात् स्त्रीजनों से विरक्ति रहे, ऐसे कामवाण से विरक्ति रहे और एक ब्रह्मत्व की उपासना के लिए रुचि जगह। देखिये जिन संतों ने, जिन महात्मावों ने जो भी महनीयता पायी है सभी महात्मावों की महनीयता का मूल कारण एक ब्रह्मचर्य व्रत मिलेगा। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का विवेक न हो तो फिर मनुष्य को मनुष्य क्या कहा जाय? मनुष्य तो उसका ही नाम है जिसका मन श्रेष्ठ हो, जो हित और अहित का विवेक कर सके। फिर तो समझना चाहिए कुछ

भी पालन करे, एक ब्रह्मचर्य की ओर दृष्टि नहीं है, इसके विरुद्ध खोटी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं तो वे सब व्यर्थ हो जाती हैं।

शुद्धात्मा से ही आत्मा का हित- यह ग्रन्थ है ध्यान का। जीवों को शरण एक आत्मा के शुद्धस्वरूप का ध्यान है। खूब बुद्धि का विस्तार करके परख लीजिए, कौनसा समागम इस जीव को शरण है। बाह्य समागमों में यदि समागम मिल गए तो तृष्णा का तो अन्त है नहीं। और तृष्णा से व्याकुलता ही होती है। जो मिला उससे अधिक और मिलना चाहिए। हजार हुए तो लाख, लाख हुए तो करोड, इस तरह की दृष्टि बढ़ती ही जाती है। तो क्या उससे शान्ति मिली? उससे तो एक तृष्णा जगी, और दु:ख में विशेष पड़ गए। और समागम न मिले तो उसकी तरस रहती है, हम दीन हैं, दरिद्र हैं। इस प्रकार की चित्त में भावना रहती है। तो समागम मिले या न मिले, कितनी ही स्थितियाँ ऐसी होती हैं कि वहाँ शान्ति नहीं मिलती। यहाँ कोई भी समागम ऐसा नहीं है जो जीव को शरणभूत हो, सुखदायी हो। खूब निगाह डालकर सोच लीजिए। न स्त्री, न पुत्र, न नेतागिरी। ये सब स्वप्नवत् असार हैं। जब आत्मा को अपने स्वरूप का परिचय हो और समस्त सांसारिक समागमों से अपने चित्त को निवृत्त कर ले, अपने आपकी ओर अपना चित्त लगाये, आत्मध्यान करें तो इस उपयोग में उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

यथार्थ विश्राम के उद्यम की श्रेष्ठता- भैया ! उद्यम ऐसा ही करना चाहिए जिससे कि आत्मा को यथार्थ विश्राम मिले। केवल एक गृहस्थी के नाते घर को ही बढ़ाना, घर से ही सुख समझना और पञ्चेन्द्रिय के विषयों में ही अपना मन लगाना, उसके ही साधन जुटाना, उसकी तरक्की में ही मेरी तरक्की है ऐसा समझना, ये सब बातें इस जीव को कहाँ तक साथ दे सकेगी? आखिर जीव का सम्बन्ध तो जीव के खुद से है। वहाँ कोई ऐसा विचित्र फेर बने, परिवर्तन बने, जो एक अलौकिक और विलक्षण है वह तो लाभ की चीज है अन्यथा जैसे अनादिकाल से रुलते चले आये, वैसे ही रुलते रहे तो मनुष्यभव पाकर भी तत्त्व की बात कुछ न पायी। सच बात तो यह है कि वैभव में जब तक मोह बुद्धि रहती है तब तक यह संसार ही बढ़ता है और जहाँ मोहभाव हटा, ममता दूर हुई, भले ही व्यवस्था करते रहें किन्तु एक सत्यप्रकाश रहे कि मेरा जगत में कुछ नहीं है। मेरा मात्र मैं ही हूँ। देह से भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप मैं हूँ, ऐसी चित्त में यथार्थ प्रतीति हो तो इस प्रतीति के कारण इसे निर्भयता, नि:शंकता, निराकुलता, शान्तिपथ, ये सब प्राप्त होंगे।

कल्याण की अप्रतीघातता- कल्याण का उद्यम गुप्त रहकर भीतर ही भीतर करना है, इसे रोकने वाला कोई नहीं है। बाहर का काम हो तो कोई उसका रोकने वाला भी बने। स्त्री, पुत्रादिक कोई भी न मानें, कहें कि यह काम मत करों। बाहर के कामों में कोई अधिक से अधिक इतना ही तो कर सकेगा कि तुम घर छोड़कर मत जावो, वन में मत रहो, त्यागी मत बनो। कदाचित् अपनी कमजोरी से या दूसरों के कहने से मान लो कोई अपने घर में ही रहता है, त्यागी बनकर जंगल में नहीं रहता है तो अपने उपयोग को अपने आत्मा की ओर लगाने में कोई बाधा डाल सकता है क्या? वह तो भीतर की बात है। वह तो स्वतंत्रता की बात है। ऐसी

ज्ञानदृष्टि इन 24 घंटों में कभी भी 10-5 मिनट बने, तो अपने ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप की ओर अपना झुकाव बनें तो उस आत्मस्वरूप के स्मरण के प्रताप से ऐसा शुद्ध वातावरण बनेगा कि उसका सारा दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो सकता है। हमारा कर्तव्य है कि हम पारमार्थिक ब्रह्मचर्य की साधना का उद्देश्य रखें और व्यवहारिक ब्रह्मचर्य की साधना को उस पारमार्थिक ब्रह्मचर्य के लाभ के लिए निर्दोष करते रहें।

श्लोक- 601

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्कर:।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्त: स्मरानल:।।

इन्द्रियविजय का उपाय- भगवान की निश्चय से भक्तजन यों स्तुति करते हैं कि हे प्रभो ! आपने अपने आपके ज्ञानस्वरूप को अधिक समझा और इसके प्रताप से इन्द्रियों पर विजय पाकर जिन बने हैं, जितमोह बने हैं। इन्द्रिय का विजय किस तरह पाया जाता है, इस सम्बन्ध में एक उपाय की बात सुनिये। विषयभोगों का सम्बन्ध तीन प्रकार के तत्त्वों से है। जिस किसी भी इन्द्रिय का विषय भोगा जाता है तो वहाँ तीन प्रक्रिया चलती हैं- एक तो सामने विषयभूत पदार्थ का संग मिलना। इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ हैं धन, स्त्री, रूप, शब्द, स्पर्श, रस, भोजन आदि। उनका संग मिलना एक प्रक्रिया तो यह है, दूसरी बात यह है कि भोगने के लिए इन द्रव्येन्द्रियों का जो पौद्गलिक हैं हाथ, पैर, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत, यह सारा शरीर जो इन्द्रियरूप है इस शरीर की प्रवृत्ति होना, और तीसरी बात बनती है अन्तरङ्ग में कल्पनाएँ बनना, ज्ञान बनना; उपयोग लगना। इसे सैद्धान्तिक शब्दों में यों कहते हैं भावइन्द्रिय, द्रव्यइन्द्रिय और विषय, इन तीन पदार्थों की एक सम्मिलित प्रक्रिया से भोग उपभोग बनते हैं। तब इन इन्द्रियों के विजय के लिए क्या करना चाहिए, कितना काम करना चाहिए? बहुत काम नहीं करना है, केवल एक ही काम करने की आवश्यकता है। वह क्या? इन तीन से पृथक् अपने ज्ञानस्वभाव को समझना। इस भेदविज्ञान में उन तीनों का ही विजय हो जाता है।

इन्द्रियविजयोपाय का विवरण- इन्द्रिय से भी न्यारा यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। ये इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं। इन भावेन्द्रिय से भी जुदा ज्ञानस्वरूप मैं हूँ ये भावेन्द्रिय हैं भीतर में ज्ञानरूप, ये खण्ड-खण्ड जानती हैं। जिनकी जानकारी उपयोग में है और बाकी अन्य कुछ भी उपयोग में नहीं है। सर्वज्ञदेव का ज्ञान तीन लोक अलोक को एक साथ जानता है। अतएव उसके ज्ञान को खण्डज्ञान नहीं कहा। भावइन्द्रिय से अर्थात् इन्द्रिय से हम जो कुछ भीतर में जानते हैं वह अंश अंश करके जानते हैं, लेकिन अंश अंश जानना मेरा स्वरूप नहीं है। यह कर्मों के आवरण से भेद बन गया है। मैं हूँ अखण्ड ज्ञानस्वरूप। अखण्ड ज्ञानस्वरूप अपनी भावना करके इस खण्डज्ञानरूप इन्द्रिय को जीतना चाहिए। ये सब विषय हैं सब संग, किन्तु मैं आत्मा हूँ नि:संग केवल ज्ञानानन्दस्वरूप। उस स्वरूप की भावना करके विषयों के प्रसंग को जीत लेना चाहिए। यों द्रव्यइन्द्रिय,

भावइन्द्रिय और विषयों से विरक्त होकर जो ज्ञानस्वभाव में अधिक अपने आपके स्वरूप को जानता है उसे जिन याने इन्द्रियों को जीतने वाला कहा है। कहते हैं ना जिनेन्द्रदेव। जिनका अर्थ है- कर्मों को जीते, विषयकषायों को जीते तो इस स्तुति में जिन शब्द का अर्थ किया गया वह सम्यग्दृष्टि जीव, जो कामभोगों से विरक्त होकर निज ब्रह्मस्वरूप की उपासना करता है। हे प्रभो ! आप ऐसे जिन हो।

निर्मोह प्रभुस्वरूप की उपासना- हे नाथ !आप जितमोह हो। आपने मोहभाव से जुदा केवल ज्ञानज्योति स्वरूप अपने अंतस्तत्त्व का अनुभव किया है जिसके कारण आप जितमोह हुए हैं, फिर इसी निर्मोह ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्व की उपासना करके आपने मोह का सर्वथा क्षय कर दिया है, अतएव आप क्षीणमोह हैं। यों भगवान की स्तुति भगवान के गुणों के वर्णन से की जाती है।

विवेकातिरिक्त जलावगाहादि अन्य उपायों से कामव्यथा के शमन की असंभवता- प्रभु ने जिन इन्द्रियविषयों को जीत लिया है उन इन इन्द्रियविषयों के उत्पात की बात चल रही है। उन 5 विषयों में भयंकर अहितकर विषय है काम। इस काम-अग्नि से जो ज्वाला उत्पन्न होती है उस ज्वाला की शान्ति समुद्र भर पानी सींच दिया जाय तब भी नहीं हो सकती है। ऐसा ही यह काम का वेग है, उससे निवृत्त होने के लिए कर्तव्य यह है कि हम ऐसे धार्मिक कार्यों में अपने उपयोग को लगायें और गृहस्थी के योग्य आजीविका के साधनों में कुछ समय अपना चित्त दें, बेकारी अपने आपमें न रहे, अगर काम न मिले तो दुनिया का उपकार करें। उपकार का क्षेत्र तो बहुत पड़ा हुआ है। उद्योगहीन रहकर जीवन बिताने से अनेक दुर्गुण प्रकट हो जाते हैं। अपना समय धार्मिक कृत्यों में व्यतीत हो, विवेक से चलें तो इसमें अपना लाभ है।

श्लोक- 602

हृदि ज्वलित कामाग्रि: पूर्वमेव शरीरिणाम्।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दय:।।

कामानल का प्रकट दाह- जेठ का तो महीना हो, मूल नक्षत्र का दिन हो और बादल रहित आकाश हो, उस समय की दोपहर में जो सूर्य की गर्मी होती है उससे तो संताप उत्पन्न होता है उससे कई गुना अधिक कामाग्नि से प्रज्ज्वलित होकर इस मोही जीव के संताप उत्पन्न होता है। एक दिमाग ही तो बदल गया, अनुचित की ओर बुद्धि लग गयी, उसमें जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है उसकी दाह जेष्ठ के मूल्य नक्षत्र के भयानक सूर्य से भी अधिक है। धर्मकार्य में रुचि रखने वाले पुरुष को सर्वप्रथम यह ब्रह्मचर्यव्रत आधार है। जिस पुरुष के मन से, वचन से, काय से, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन है उस पुरुष के ही रत्नत्रयरूप धर्मविकास की प्राप्ति होती है। एक जाति की कषाय है, अन्यथा समीक्षा करके देखो तो उस कामविकार के भाव से और

उसमें किए हुए यत्न से इस आत्मा को लाभ क्या होता है? बरबादी ही सारी पड़ी हुई है। जो पुरुष निर्दोष ब्रह्मचर्य की साधना रखते हैं उनके ही उपयोग में यह आत्मतत्त्व हस्त पर रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट प्रतिभात हो सकता है। जिन्हें आत्मध्यान होता है, आत्मस्मृति बनती है वे पुरुष एक परमार्थ पथ में लगे हुए होते हैं और सत्य शिव सुन्दर सर्वकल्याण उनको ही प्राप्त होता है।

श्लोक- 603

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषयव्यापारमूर्छितम्।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं।।

कामाग्नि की ज्वाला का दुष्परिणाम- कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवों के हृदय में प्रज्ज्वलित होती है। और जब यह कामाग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है तो शरीर के अंगोपाङ्गों को भस्म कर देती है अर्थात् सूखा देती है। चिन्ता चिता से भी बढ़कर दुःखदायी है। किसी भी ओर की चिन्ता हो, धन वैभव की, इष्ट वियोग की, अनिष्ट संयोग की किसी भी प्रकार का शोक हो उस चिन्ता में मनुष्य का शरीर घुल जाता है और फिर यह बेहूदी चिन्ता है कामविषयक चिन्ता, जिसका न कोई आधार है, न रूपक है, न वास्तविकता है। केवल एक हृदय में विकल्प उठ बैठा तो उस वेदना से पीड़ित होकर यह जीव अपने शरीर को सुखा डालता है।

निष्काम कर्मयोग का ब्रह्मचर्य के साधन में सहयोग- कामी पुरुष का जीवन बेकार है। निष्काम होने के लिए कर्तव्यशील होने की बहुत जरूरत है। निष्काम कर्मयोग यह ब्रह्मचर्य की साधना में बहुत सहायक उपाय है। क्या? बिना विषयसाधनालक्ष्य के जीवों का उपकार, कर्तव्य का पालन, उन कर्तव्यों से अपने लिए चाहें मत। चाहें तो इतना ही चाहें कि हे भगवन् ! स्वप्न में भी मुझमें विकार भाव न जगे। अपने आपको निर्मल पवित्र बना सकना यह बहुत ऊँचा कार्य है। कुछ भी परिस्थिति आये, दरिद्रता है तो क्या है, वह कुछ विपत्ति है क्या? पदार्थ है, नहीं रहा यहाँ, किसी में निकट रहा। जिसके निकट वैभव है वह वैभव से वैभववान नहीं हो गया, वह तो अब भी अकेला है, अपने स्वरूपमात्र है। और, जिसके निकट वैभव नहीं है उसका गया क्या आत्मा से? आत्मा में गुण कम हो गए क्या? कौनसी व्यथा आ गई? पर मोह में एक दृष्टि ऐसी बन जाती। ये जगत के मोही जन मुझे लोग भला कहें, बस इतने मात्र के काल्पनिक सुख के लिए जो कि असार है, असार ही नहीं विपत्तियों का कारण है इतने मात्र सुख के लिए इतने श्रम और विकल्प करते हैं मोहीजन। उनमें तत्त्व कुछ नहीं है। धर्मकार्य करें तो आत्मउद्धार के लक्ष्य से ही करें। पारमार्थिक ब्रह्मचर्य की साधना के लिए ये सब धर्मकर्तव्य है- शील से रहना, उपवास करना, दर्शन करना, स्वाध्याय करना आदि।

ब्रह्मचर्य का सहयोगी विवेक- इन्द्रिय के समस्त विषयों में से कामविषय इतनी विकट विपत्ति है कि जिससे कह सकते कि इसका जीवन बेकार है। उस भावना को बदलकर एक शुद्ध आत्मतत्त्व के निरखने में लगना, उसमें उपयोग जमा रहे, इसकी वृत्ति में यत्न होना चाहिए। रही गृहस्थावस्था में आजीविका की बात, उसके सम्बन्ध में यह विश्वास बनायें कि परिवार में जितने भी लोग हैं सबके साथ कर्म का उदय लगा है। जैसे हम है कर्मसहित वैसे ही घर के सब लोग हैं कर्मसहित। सभी अपने-अपने कर्मों से सुखी दु:खी होते हैं। उनका उदय अच्छा होगा तो हम या अन्य कोई उनसे पालन पोषण में निमित्त बनेंगे। मैं किसी का पालन पोषण नहीं करता, मैं तो केवल अपने आपमें अपने विकल्प करता हूँ। ऐसी प्रतीति बनायें और धर्मकार्यों को मुख्य मानें और वह भी बनता है ब्रह्मचर्य की भावना सहित। सो ब्रह्मचर्यव्रत को अधिकाधिक निर्दोष बनाने का प्रयत्न करें।

श्लोक- 604

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदार्थितम्।
यामिन: शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम्।।

कामविषमूर्छितों को जगाने के लिये योगियों का यत्न- देखिये जैसे किसी सर्प आदिक के डसने से किसी को विष चढ़ जाय तो उसके उतारने के लिए मंत्रवादी प्रयत्न करते हैं, इसी तरह समझिये कि महाबलवान कामरूपी सर्प के विषव्यापार से मूर्छित हुए इस विश्व को निरखकर योगीजन विवेक सहित उनके विवेक के लिए प्रयत्न करते हैं। जगत में इतना ही तो एक रहस्य है कि यह मनुष्य, यह जीव अपने आपको अपने स्वरूपमात्र नहीं मानता तो इसके परपदार्थों में मोह उत्पन्न होता है। बस यही तो विपत्ति का मूल है, और जिस किसी भी उपाय से इसको अपने आपमें यह विवेक जग जाय कि मेरा तो स्वरूप एतावन् मात्र है जितना यह मैं अपने क्षेत्र में अपने प्रदेश में ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, जो कुछ मैं अपने आपमें प्रवर्तन कर रहा हूँ उतना ही मैं हूँ और मेरा प्रभाव, मेरी दुनिया, मेरा सर्वस्व मेरे स्वरूप में ही है, इससे बाहर नहीं है, इतना ज्ञान विवेक श्रद्धान ज्ञानी पुरुष में हुआ करता है, वह चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु हो, मूल में इतना ज्ञान हुए बिना वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। अपने स्वरूप का परिचय होने पर फिर इस ही उपयोग की रक्षा के लिए बाहर में जो भी काम करना पड़ता है वे सब भी काम कर्मयोग कहलाते हैं।

ज्ञानी गृहस्थ की प्रवृत्ति- ज्ञानी गृहस्थ ने चाव से गृहस्थी नहीं बनायी, किन्तु अन्य उपाय अपनी रक्षा का नहीं समझ पाया इसलिए गृहस्थी बनायी है। जो चाव से गृहस्थी बनाते हैं वे ज्ञानी नहीं हैं। इस आत्मतत्त्व से परिचित ज्ञानी पुरुष ने अपनी परिस्थिति के माफिक साधन जुटाया, संन्यास स्थिति में अपना निर्वाह नहीं

समझ पाया और साथ ही मैं व्यसनों में, विषयों में पतित न हो जाऊँ, यह भी भावना रखी, तो इन दो भावनाओं के बीच की स्थिति है गृहस्थी का अंगीकार करना।

ज्ञानी गृहस्थ की वृत्ति पर एक दृष्टान्त- ज्ञानी गृहस्थ के क्या अन्तर्दृष्टि रहती है, इसे एक उदाहरण से समझिये। किसी सेठ की मृत्यु हो रही थी। उसके केवल एक बालक था। घर में और कोई था नहीं तो उसने गाँव के मुख्य 4-5 लोगों बुलाकर उनके नाम ट्रष्टनामा लिख दिया। ये ये इस सारी सम्पत्ति के ट्रष्टी हैं और ये इस बालक की रक्षा करेंगे। जब बालक अपनी उम्र पर आ जायेगा तो ये सारी जायदाद उसे सौंप देंगे। अब सेठ का तो मरण हो गया। कुछ दिन गुजरने के बाद वह बालक सड़क पर खेल रहा था, किसी ठग ने उस बालक को देखा। उसके कोई बालक था नहीं, सो वह उसे अपने घर उठा ले गया। अपनी स्त्री ठगिनी को उसको पाल लेने के लिए कहा। वह ठगिनी स्त्री भी उस सुन्दर लड़के को पाकर बड़ी खुश हुई। खूब प्यार से उसे पाला पोषा। अब वह बालक तो यही समझ रहा था कि यह मेरी माँ है, यह पिता है, यह मेरी खेती है, उसी को अपनी जायदाद समझता था। जब 18-19 वर्ष गुजर गए तो शहर की एक गली से वह लड़का निकला। एक ट्रष्टी ने उसे पहचान लिया और बोला- ऐ बालक, तू अभी तक कहाँ था? तेरी यह 10 लाख की जायदाद हम कब तक संभालेंगे? अब तू इसे ले ले, इसकी रक्षा कर। उस बालक को इतनी बात सुनकर आश्चर्य हुआ। आखिर यही बात तीन चार लोगों ने और कही तो उसे विश्वास हो गया कि ये ठीक कह रहे होंगे। उनसे वह लड़का कहने लगा कि अच्छा फिर देखेंगे। झट अपने घर पहुँचा। ठगनी माँ के पैर पकड़कर वह शुद्ध हृदय से गद्गद् होकर पूछने लगा कि माँ यह तो बतावो कि मैं किसका लड़का हूँ? ठगनी माँ उस बच्चे की मोहनी मुद्रा को निरखकर बोली कि तू अमुक सेठ का लड़का है। इतनी बात सुनकर उसके चित्त में सब उजाला हो गया। वे समझ गया कि वे लोग ठीक ही कहते थे। जब मेरे माता पिता गुजर गए तो ये मुझे उठा लाये थे। उसके सही ज्ञान जग गया। ज्ञान जग जाने के बाद क्या वह ठगनी को ठगनी और ठग को ठग कहेगा? वह तो ठगनी को माता और ठग को पिता ही कहेगा। वह वैसे ही उन्हें माता पिता कह रहा है, उन खेतों को अपनी खेती कह रहा है, उन खेतों में कोई जानवर घुस जाय तो उसे भी वह खेद रहा है। सारी बातें वह पूर्ववत् कर रहा है, पर उसके चित्त में यह बात बैठ गयी है कि मेरा यह घर नहीं, ये मेरे माँ बाप नहीं।

ज्ञानी गृहस्थ की उपेक्षामयी अन्तर्वृत्ति- ठीक ऐसी ही उपेक्षारूप स्थिति सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की होती है। भेदविज्ञान से जान लिया कि इस मुझ आत्मा का कोई जनक नहीं होता। आत्मा स्वयं सिद्ध है, अनादि से है और इसमें उत्पाद व्यय करने का स्वभाव है, जैसे कि सभी पदार्थों में होता है। यों उत्पाद व्यय करते हुए अनादि से चला आ रहा हूँ, अनन्त काल तक चलता रहूँगा, मेरा कोई जनक नहीं, मेरा वैभव मात्र वही है जो कभी मेरा साथ नहीं छोड़ता। वह है स्वरूप, वही मेरी विभूति है। इतना सब जानकर भी व्यवहार में जो माता पिता हैं क्या उन्हें अपने माता नहीं कहता? जो भी वैभव है क्या उसकी रक्षा न करेगा? वह दुकान

संभालता है, सारे वैभव की संभाल करता है, सबको अपना अपना भी कहता है, पर सब कुछ करने के बावजूद भी उसकी दृष्टि में पूर्ण उजेला है कि मेरा तो मात्र मैं हूँ।

विपद्धाम संसार में विवेकी का कर्तव्य- यह संसार विपित्तयों का स्थान है। एक गहन वन है जिसमें क्लेशों की दावाग्नि बहुत प्रज्ज्वलित हो रही है। इस परिस्थिति में हमारा कर्तव्य यदि मात्र लौकिक निर्वाह ही रहा, परमार्थ काम न किया तो इसका परिणाम अच्छा तो नहीं निकलेगा। रही एक यह बात कि आजकल अनेक पुरुषों के आजीविका की चिन्ता बनी रहती है, लेकिन चिन्ता करना यह सब अज्ञान का परिणाम है। अपनी आवश्यकताएँ घटा दें, अपनी सात्विक वृत्ति बनायें। उसमें इतना ही तो नुकसान हैं कि लोग यह कह उठेंगे कि यह इस तरह से रहता है। इससे ज्यादा कोई नुकसान है क्या? मगर जो बुद्धिमान हैं, विवेकी हैं वे उसके गुण गायेंगे। यह कितना विरक्त पुरुष हैं, कितना सन्तुष्ट है, और साधारण वैभव में व्यवसाय में सन्तुष्ट रहकर धर्मध्यान में कितना समय लगाते हैं आप यह बतलावें? कोई पुरुष लौकिक इज्जत रखने के लिए रात दिन वैभव की चिन्ता और व्यवसाय करता है और कोई पुरुष अपनी लौकिक इज्जत की परवाह न करके केवल एक आत्मरक्षा के हेतु ज्ञानार्जन करता है, ध्यानसाधना करता है, अपने आपके उपयोग को अपने स्वरूप की ओर अधिकाधिक लगाना चाहता है तो इन दो पुरुषों में अन्त में लाभ में कौन रहेगा? जो आत्मरक्षा के लिए यत्न करता है, आत्मदृष्टि संभालता है वह पुरुष लाभ में रहेगा। तो बजाय चिन्ता करने के इस ओर यत्न करें कि हमारा इस बिना भी काम चल सकता है।

साधुता- अपनी आवश्यकतावों को कम करने के मायने ही साधुता है। साधुता का अर्थ और क्या है? गृहस्थों में भी साधुता होती है और साधुवों में भी साधुता प्रकट होती है। उनमें ये दो बातें मिलेंगी- अपनी आवश्यकतावों को कम करना और उपयोग को आत्मनिरीक्षण में अधिक लगाना। इसके विरुद्ध जो आवश्यकतावों को बढ़ाने का यत्न रखते हैं और आत्मतत्त्व की ओर उपयोग का कोई ध्यान भी नहीं करते हैं उनमें साधुता नहीं है। साधु का मतलब सज्जनपुरुष, मोक्षमार्गीपुरुष। इन सब कल्याण की बातों को प्राप्त करने के लिए काम और भागों से विरक्ति पाने की आवश्यकता है और अपने ज्ञानस्वरूपमात्र प्रभु की उपासना की आवश्यकता है।

श्लोक- 605

एक एव स्मरो वीर: स चैकोऽचिन्त्यविक्रम:।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत्।।

विश्व को कामविषकदर्थित निरखकर योगियों का विवेकशरणगमन- देखिये पंचेन्द्रिय के विषयों में कुछ विषय तो ऐसे हैं कि जिनकी साधारणतया ससीम साधना कर लेना किसी पद में आवश्यक है, किन्तु ऐसे ही दुर्गन्धित वातावरण में रहने से शरीर अस्वस्थ हो जाता है, अतएव दुर्गन्धित वातावरण से बचकर कुछ सुरभित वातावरण में रहना आवश्यक है। यों कुछ बात प्रयोजक है तो किसी सीमा में, लेकिन यह कामवेदनाविषयक व्यापार तो इतना अहित करता है कि जिसके वश हुआ यह पुरुष मन, वचन, काय सब बलों को खो बैठता है, चित्त स्थिर नहीं रह पाता, कभी एक लक्ष्य भी नहीं बन पाता। कामरूपी सर्प के विष से पीड़ित इस जगत को देखकर संयमी मुनि विवेकरूपी गरुड की शरण में प्राप्त होते हैं अर्थात् उन्होंने विवेक को काम से बचने का उपाय माना है।

काम की विडम्बना- भैया ! गिरने का थोड़ा कोई भी प्रसंग आये तो गिरना आसान है और फिर गिरते जाना भी आसान रहता है, किन्तु प्रारम्भिक गिरावट से बचने का यत्न हो जाय तो फिर बचने का यत्न प्रबल होता जाता है। समयसार में 5 इन्द्रिय के विषय को काम और भोग शब्द से कहा है। काम की मुख्यता है स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय में। भोग में पदार्थ का बिगाड़ नहीं होता। वह तो ज्यों का त्यों पूर्ण सुरक्षित होता है, किन्तु काम में पदार्थ दलमले जाते हैं। जैसे रसनाइन्द्रिय का विषय है भोजन, तो पदार्थ को खूब दलामला जाता तब तो भोग में आता है। भोग की अपेक्षा इस काम को अधिक घृणित कहा गया है। उससे बचने का उपाय एक विवेक है। जैसे एक स्वाद की बात ले लीजिए। किसी भोजन में उत्तम स्वाद मिला तो स्वाद के लिए ही सारे श्रम करने लगे कोई तो बतावो उसमें अन्त में तत्त्व क्या पाया? घाटी नीचे माटी। गले के नीचे उतरा फिर उसमें कोई स्वाद नहीं रहता। एक थोड़े सेकेण्ड के लिए इतना परिश्रम करना और अपनी सारी जिन्दगी उलझन में डाल लेना, इसे कोई विवेक नहीं कहेगा। ऐसे ही कामविषयक वेदना की पूर्ति, अनापसनाप साधन बनाना, इसे भी विवेक नहीं कहा।

कामविडम्बना से बचने का उपाय भेदविज्ञान- काम से बचने का उपाय विवेक ही है अर्थात् भेदविज्ञान है। जैसे कोई पुरुष यहाँ से विदेश चला गया, जब वह विदेश से स्वदेश लौटता है तो विदेश के किनारे पहुँचकर जब लोग पूछते हैं कि कहाँ जावोगे? तो वह उत्तर देगा कि हिन्दुस्तान जायेंगे। हिन्दुस्तान में जब प्रवेश करता है, मान लो किसी बम्बई आदिक बन्दरगाह पर आ गया तो वहाँ पूछे कोई कि कहाँ जावोगे? तो वह कहेगा उत्तर प्रदेश में जायेंगे। उत्तर प्रदेश के किनारे पर कोई पूछे कि आप कहाँ जावोगे तो वह कहेगा कि अमुक जिले जायेंगे। वहाँ बतावेगा कि अमुक गाँव जायेंगे, और उस गाँव में आकर अपने घर में जो विश्राम करने का कमरा है उसमें पहुँचकर विश्राम से बैठ जाता है। ऐसे ही समझिये कि मोह रागद्वेष से पीड़ित होकर यह जीव विदेश में पहुँच गया, स्वदेश तो अपना आत्माराम है और जितने परपदार्थों का संयोग है, उनकी उलझन है, यह सब तो विदेश यात्रा हो रही है। कोई पुरुष विदेश यात्रा से हटकर स्वदेश आना चाहे तो उससे पूछा जाय- भाई कहाँ जाना चाहते हो? कहाँ से हट रहा है यह? परभावों से हटकर अपने वैभव की ओर आ रहा

है। लोकव्यवहार में वैभव धन समझा जाता है। वहाँ से हटकर इन जड़ पुद्गलों से हटकर चैतन्यस्वभाव में आ रहा है। परिजन, मित्रजन, अब यहाँ से भी हटकर अपने आपके चैतन्य में आ रहा है। यहाँ से और अन्दर जाकर एक आत्मपरिणतियों में आ रहा है। वहाँ भी रागद्वेष मोह से हटकर एक ज्ञानभाव में आ रहा है, और वहाँ भी तर्क, वितर्क, विचार, क्षयोपशम वृत्तियों से हटकर एक शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप में आ रहा है, यही है विश्रामों में परमविश्राम। जैसे शरीर से थके हुए लोग सो कर आराम करते हैं, ऐसे ही विकल्पों से थके हुए प्राणी निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव की उपासना में आराम लिया करते हैं।

सहज परमविश्राम में आत्मकल्याण- विश्राम और शान्ति का परमधाम अपने आपके ही अन्दर अपने आपका स्वरूप है। उस स्वरूप में जो मग्न रहते हैं वे ही परमयोगीश्वर हैं और इस ही पारमार्थिक आन्तरिक तपश्चरण के प्रसाद से अर्थात् इसी सहजआनन्द की अनुभूति के प्रसाद से ये कर्म की बेड़ियाँ ध्वस्त होती हैं और अरहंत पद की प्राप्ति होती है। तीन लोक के पति अर्थात् स्वामी पूज्यनाथ हैं, यह परमात्मा अरहंतदेव, इनके स्वरूप का ध्यान करके हम अपने स्वभाव की ओर आयें और इस ब्रह्म का आचरण करके अपने परम ब्रह्मचर्य को संभालें। दस लक्षण के धर्मों में अन्तिम धर्म ब्रह्मचर्य है। उसका प्रसाद निर्वाण है, वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का स्थान है। ऐसा आत्मस्वरूप की आराधना का मुख्य लक्ष्य बनायें और अपने दुर्लभ नर-जीवन को सफल करें।

श्लोक- 606

एकाक्यपि नयत्येष जीवलोकं चराचरम्।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः।।

काम द्वारा जगत की अवज्ञा- इस लोक में एक मात्र काम ही ऐसा वीर है कि जिसका अचिन्त्य पराक्रम है और जिसने अवज्ञा से ही अज्ञानमात्र से इस जगत को पाँव तले दबा रखा है। जैसे कोई किसी को वश कर ले उसी प्रकार से काम ने लोक के समस्त प्राणियों को वश कर लिया है। जो काम के वश नहीं ऐसे योगिराज तीर्थकर आदिक महापुरुष ही परमविजेता हैं। साहित्य में एक जगह कवि ने लिखा है कि कामदेव और रति ये दोनों वन में विहार कर रहे थे कि एक जगह पारसनाथजिनेन्द्र योगिराज की अवस्था में ध्यानस्थ बैठे हुए थे। तब रति ने कामदेव से कुछ पूछा और कामदेव ने रति को उत्तर दिया- कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी ऊंहूं प्रतापी प्रिये, तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां। मोहोऽनेन विर्निजितः प्रभुरसौ तत्किंकराः के वयं, इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिनः पातु नः। रति पूछती है कि हे नाथ ! अयं कः? यह कौन है? तो कामदेव उत्तर देता है कि जिनः। ये जिनेन्द्रदेव हैं। तो रति पूछती है कि यह भी तुम्हारे वश में हैं कि नहीं? तो काम उत्तर देता है नहीं ये हमारे वश में नहीं है। तब रति कहती है कि यदि यह तेरे वश

नहीं हैं तो हे कायरमते ! हे कायरकाम ! अब तुम अपने विक्रम का अभिमान छोड़ दो। यह तो तुम्हारे वश ही नहीं है। तो काम उत्तर देता है कि इस नाथ ने मोह को जीत लिया है। तब हम किंकर इन पर क्या अधिकार कर सकते हैं। इस प्रकार जिसके सम्बन्ध में काम और रति की वार्ता चल रही है वे पार्श्वजिनेन्द्र हम सबकी रक्षा करें। दिखाया यह है इस कविता में कि काम के जो वश न हो वह पराक्रमियों में श्रेष्ठ माना गया है। यह सब बात बनती है विवेक से, ज्ञान के प्रकाश से, किन्तु विवेकशील पुरुष जगत में अत्यन्त विरले हैं। इस कामदेव ने जगत के सर्वप्राणियों को अपने वश किया है। आत्मध्यान के पात्र वे पुरुष होते हैं जो ऐसे लोकविक्रमी काम पर भी अपने विक्रम का प्रयोग कर लें। जब तक कामवासना पर विजय नहीं प्राप्त होती तब तक धर्मपालन की दिशा में विधिवत् प्रवेश नहीं होता।

श्लोक- 607

पीडयत्येव नि:शङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम्।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले।।

कामवशता से महती व्याबाधा- यह काम जिसका कि पराक्रम अखण्ड है यह अकेला ही चराचरस्वरूप जगत को अपनी शक्ति से खण्डित कर रहा है अर्थात् एक अकेला ही यह काम जगत के इन अनन्त असंख्याते जीवों को अपने मार्ग में चला रहा है अर्थात् स्वाभाविक सन्मार्ग से हटाकर कुपथ में चला रहा है। पशु, पक्षी, मनुष्य सभी जगह देखो तो ये जीव इन्द्रिय के वश होकर निरन्तर आकुलता पाते रहते हैं। संसार के प्रत्येक प्राणी शान्ति चाहते हैं और आकुलता से दूर होना चाहते हैं। और, यावन्मात्र उनका प्रयत्न होता है। वह सब शान्ति प्राप्त करने के लिए है। लेकिन अनेक प्रयत्न करने पर भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे सब प्रयत्न उपायभूत है ही नहीं। लोग कुछ थोड़ीसी चतुराई पाकर इस लोक में अपनी चतुराई बताकर इस लोग में गर्व करते हैं, करें, लेकिन इस असार संसार में असार प्राणियों को असार चतुराई को दिखाकर यदि अपने मन का सन्तोष किया है तो वह मात्र मोह की विडम्बना है। तत्त्व वहाँ कुछ भी नहीं है। इन्द्रिय के विषयों के वशीभूत होकर यश प्रशंसा मन के विषय के वशीभूत होकर जो जो जीव प्रयत्न रखते हैं वे सब प्रयत्न तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं। शान्तिलाभ लेने की बात तो दूर ही रहो।

परमपुरुषार्थ का अनुरोध- जो इस जगत में अपने को निर्लेप और विविक्त रखना चाहते हैं, दुनिया जाने न जाने, माने न माने, एक अपना उपयोग अपने ज्ञानानन्दस्वभावी अंत:परमात्मतत्त्व में लग गया है तो उस जीव ने सब कुछ प्राप्त कर लिया। विषयों से विरक्त होना और अपने ज्ञानस्वरूप में लगाव होना ये दो बातें बड़े ऊँचें भवितव्य से प्राप्त होती हैं अन्यथा ये कामनायें, नाना प्रकार की वाञ्छायें जो जीव को आनन्दस्वभाव से पतित करके एक वैषयिक सुख में लगा देती हैं बस ये विडम्बनायें जैसी अब तक चली आयी चलती रहेंगी।

नरभव पाकर दुर्लभ समागम पाकर ऐसी बुद्धि, ऐसे देव, शास्त्र, गुरु की संगति, शास्त्रों में जो गुरुजन मर्म लिख गए हैं उनके पढ़ने समझने की योग्यता, सब कुछ प्राप्त करके भी यदि स्वहित की ओर अपना उपयोग नहीं दिया, बाह्य-बाह्य विषय प्रसंगों में ही उपयोग फँसाया तो भला बतलावो कल्याण का अवसर फिर होगा और कहाँ? इन इच्छावों पर विजय करना एक सर्वोच्च पुरुषार्थ है।

कषायविजय में सर्वविजय- एक राजा ने अपने पराक्रम से सब राजावों को वश कर लिया और उस राजा को सभी पब्लिक के लोग सर्वजीत कहने लगे। सब कहें सर्वजीत, मगर माँ सर्वजीत न कहे। तो राजा अपनी माँ से बोला कि लोग मुझे सर्वजीत कहते हैं और तू क्यों नहीं कहती? तो माँ बोली- बेटा अभी तू सर्वजीत नहीं हुआ। बेटा बोला- अच्छा बतावो अभी कौनसा राजा जीतने को शेष रह गया है? माँ बोली- राजा तो तूने सब जीत लिये, लेकिन तेरे में जो यह अहंकार है, तेरे में जो ये अनेक इच्छायें जग रही हैं इनको तो तूने अभी नहीं जीता याने तूने अभी अपने आपको तो नहीं जीता। भले ही बाहर में कुछ प्रतिष्ठा हो गई। जब तू अपने को और जीत लेगा तो मैं भी तुझे सर्वजीत कहने लगूँगी। तो प्रयोजन यह है कि अपने आप पर वश चल सके, अपने आपका अपने आपमें समाधान कर सकें, विषयकषायों से अपने को विविक्त रख सकें तो यही है शान्ति का पुरुषार्थ।

आत्मशान्ति का सुगम पथ- कितना सीधे शब्दों में आचार्यों ने शान्ति का मार्ग दिखा दिया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्ष का मार्ग है, शान्ति का मार्ग है। अपने आपके आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा निरखना है कि मैं सहज जिस स्वरूप हूँ बस वही मैं आत्मतत्त्व हूँ। किसी पर के सम्बन्ध से पर का ख्याल करके जो कुछ विकार उठते हैं वे विकार मैं नहीं हूँ, मैं निर्विकार ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसा ही जानना अथवा ऐसे ही ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान करना यह सब सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ही ज्ञान में निरन्तर रत रहना सम्यक्चारित्र है। इस उपाय से चलें तो शान्ति प्राप्त होती है। ये उपाय उन्हीं विजेता पुरुषों से बनते जो कामसंस्कार को विवेकबल से खण्डित कर देते हैं।

श्लोक- 608

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम्।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं नि:प्रतीकारमुत्तरम्।।

विश्व की कामपीड़िततता- यहकामनिर्भय होकर तीन लोक को पीड़ित कर रहा है। सैकड़ों उपाय करने पर भी यह कामव्यथा दूर नहीं होती है। पुराणों में यत्र तत्र देखने पढ़ने में आता है कि अमुक राजा अमुक कन्या के लिए इतनी विकट लड़ाई लड़ा, और उस कन्या को लेकर सन्तोष माना। और-और जगह जो कातर

पुरुष हैं उन्होंने छल बल का ऐसा ऐसा यत्न किया। तो यह सब कामवासनाओं का ही तो परिणाम है। गृहस्थों ने इस ही काम के वश करने के लिए ब्रह्मचर्य अणुव्रत को अंगीकार किया है, वह भी एक पुरुषार्थ का रूप है। काम से आनुषंगिक सभी कामनाओं को ले लेना, इच्छावों पर विजय करना यह असाधारण पुरुषों का काम है, अन्यथा जीव तो इच्छावों के दास बनकर रहते हैं।

सत्य स्वरूप के योग का सत्य शरण- इच्छारहित रागद्वेषरहित मात्र चैतन्यस्वरूप का जिन्होंने अवलोकन किया है वे ही तो आत्मयोगी कहलाते हैं। बाहर सभी प्रकार के योग किये, इस जीव ने अनेक संयोग बनाये, लेकिन अपने आपमें अपने आप का योग मिलना यह अध्यात्मयोग नहीं किया, उसका फल यह हुआ कि बाहर ही बाहर अपनी बुद्धि लगाकर अपने को पीड़ित बनाया, दु:खी किया। लोक में शरण केवल अपने को आपका ध्यान है, इसीलिए भगवत्पूजा की जाती है। सिद्ध भगवंतों का स्मरण करके हम भी अपने आपके उस स्वरूप को निरखें और ऐसी भावना भरे, अनुभव करें कि जो सिद्ध का स्वरूप है वही स्वरूप मेरा है। केवल एक विकार प्रसंग का यह सब विपरीत परिणमन चल रहा है। तो स्वभाव की उपासना से वे सब विपरीत कुसंग दूर हटाये जा सकते हैं यह भावना भाने के लिए प्रभु की पूजा की जाती है। घर में, दुकान में, समाज में दिन रात रहकर जो कालिमा उत्पन्न कर ली उस कालिमा को धोने के लिए प्रभु के चरणों में जाया करते हैं। वहाँ भी यदि पर का संकल्प नहीं छोड़ा तो प्रभु का मिलान नहीं हो सकता। सर्व इच्छावों को भंग करके इच्छा रहित, रागद्वेषादिक रहित निर्मोह अपने स्वरूप का ध्यान किया जाय तो उससे जीव को शान्ति का मार्ग मिलता है। इसके लिए चाहिए सहज वैराग्य जिसके बल से सब गुण प्राप्त हो जाते हैं। वैराग्य के ही कारण उदारता प्रकट होती है। वैराग्य के कारण त्याग धर्म प्रकट होता है, वैराग्य के कारण अशान्ति दूर होती है।

सत्यस्वरूप की उपासना में समृद्धि अनायास- सहज वैराग्य प्राप्त हो यह माँगना चाहिए प्रभुदर्शन करके। हे नाथ ! मुझमें वह पराक्रम जगे जिस पराक्रम के द्वारा आपने कर्म शत्रु को भस्म किया और उत्कृष्ट नि:शंक पूज्य परमात्मपद पाया, वह पद मुझे प्राप्त हो, यह भावना भरना चाहिए। उत्कृष्ट भावना होने पर साधारण बात तो अपने आप ही प्राप्त हो जाती है, उसकी माँग क्या करना? कोई पुरुष छायावान बड़े पेड़ के नीचे बैठा हुआ पेड़ से हाथ जोड़कर यों कहता हो कि हे वृक्षराज मुझे छाया दो, तो उसे देखकर आप शंका कर उठेंगे कि कहीं यह बावला तो नहीं बैठा है। छाया वाले वृक्ष के नीचे बैठा है तो छाया मिल ही रही है, अब उसकी माँग क्या करना? इसी प्रकार जो शुद्ध मन से प्रभुभक्ति में रत हो रहा है उसे सर्वसमृद्धि प्राप्त हो रही हैं। अब ऐसे उत्कृष्ट भाव के समय सांसारिक कुछ चीजों का क्या माँगना। वे तो स्वयमेव ही आकर प्राप्त होती हैं।

पुण्य पुरुषों की लोकसम्पदा से परमोपेक्षा- जो पुण्यात्मा पुरुष हैं वे पुण्य सम्पदा को तृणवत् त्यागकर अपने योगध्यानसाधना में रहते हैं, उसके प्रताप से चारघातिया कर्म दूर हुए, अरहंतपद प्राप्त हुआ और पुण्य

सम्पदा ने तब भी पीछा न छोड़ा, वहाँ यह पुण्यसम्पदा नाना रचनाओं के रूप में समवशरण आदि के बहाने भगवान अरहंत के चरणों में सेवा करने वहाँ भी पहुँची, लेकिन भगवान उससे चलित नहीं हुए। गंधकुटी पर पहुँच गए वहाँ भी पुण्य सम्पदा ने रत्नजड़ित सिंहासन रच लिया, लेकिन उससे वे चार अंगुल ऊपर अंतरिक्ष विराजे हैं। ऊपर से अन्तरिक्ष के रूप में तीन छत्र के बहाने पुण्य सम्पदा ने चाहा कि हम भगवान को छू लें लेकिन वह भी ऊपर ही लटकती रही। पुण्यसम्पदा से इस आत्मा को शान्ति मिले ऐसा कभी सम्भव नहीं है। शान्ति तो विवेक की देन है।

निर्विकार अन्तस्तत्त्व की उपासना में परम निष्काम प्रभु के दर्शन- मैं सबसे न्यारा, अपने आप समृद्ध प्रभु हूँ, कृतकृत्य हूँ। जगत के किसी भी अन्य पदार्थ में कुछ परिणमन करने को मुझे नहीं पड़ा है। किसी पर में मेरा कुछ कर्तव्य चलता ही नहीं। मैं सर्वत्र अकेला अपने भावों को ही बनाता रहता हूँ। किसी के प्रति द्वेष भाव जगे तो वहाँ भी हम उसका अनर्थ नहीं कर पाते, किन्तु अपने आपमें व्यर्थ कषायभाव बनाते रहते हैं। इसी तरह किसी पर प्रसन्न हो जायें, किसी से मित्रता मानें तो वहाँ भी हम किसी को सुख नहीं दे सकते। किन्तु हम एक अपने में कषायरूप परिणमन किया करते हैं। मेरा पर में कुछ करने को अटका ही नहीं है। मैं कृत-कृत्य हूँ। ऐसा जो अपने को पर से निर्लेप अनुभव करता है वह ज्ञानी कामवासनाओं से दूर रहकर आत्मा का ध्यान करके निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है। यह इच्छा दो क्षण को भी तो टले, फिर देखो उस इच्छारहित स्थिति में प्रभु के स्वयं ही सहज दर्शन होते हैं।

श्लोक- 609

जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम्।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम्।।

कामादिक विषों की परयोगों से नि:प्रतीकारता- इस कामरूप विष को कालकूट विष से भी महान विष मानता हूँ क्योंकि कालकूट विष भी उपाय करने से मिट जाता है, किन्तु कामरूपी विष उपायरहित है अर्थात् किसी पर के द्वारा इलाज करने से काम रोग दूर नहीं होता। यहाँ पूजन में द्रव्य चढ़ाने का मंत्र बोलते हैं तो कहते हैं कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं। कामवाण के विध्वंस के लिए मैं पुष्पों को चढ़ाता हूँ। उस चढ़ाने का अर्थ क्या? अभी तक यह समझता रहा कि ये पुष्प व और और भी दिलचस्प साधन ये मेरी काम की वेदना को मेटेंगे और इसीलिए इन साधनों को जुटाते रहे लेकिन उससे मिटे तो नहीं। तो अब हे नाथ ! मैं इन साधनों का परित्याग करता हूँ। जैसे अन्य मंत्रों में कहते हैं, जन्म, जरा, मृत्यु के विनाश के लिए मैं जल का निर्वपन करता हूँ। हे नाथ ! मैं अभी तक यह जानता रहा कि मैल को धोने के लिए जल समर्थ है। इस मुझमें ये तीन मैल लगे हैं, जन्म, जरा और मरण। तो मैंने सोचा कि इस जल के प्रयोग से मैं इन मलों को धो

डालूँगा, लेकिन कितना ही मलमल कर नहाया, ये मल धुले नहीं, तब यह समझ में आ रहा है कि जन्म, जरा, मरण जैसे कठिन रोगों को दूर करने में यह जल समर्थ नहीं है अतएव मैं इस जल की उपेक्षा करता हूँ, चढ़ाता हूँ, छोड़ता हूँ, संसारसंताप के नाश करने के लिए इस चंदन का निर्वपन करता हूँ। भूल से यह माना कि कोई संताप उत्पन्न हो तो चंदन घिसकर लगा लें संताप दूर हो जायगा लेकिन संसार का संताप ऐसा विलक्षण है कि किसी भी शीतल पदार्थ से यह संताप दूर नहीं होता।

भेदविज्ञान से ही संसारसंताप के शमन होने की शक्यता- कोई पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर बेचैन है उस पुरुष को यदि किसी बर्फखाने जैसे ठंडे घर में डाल दिया तो क्या उससे उसका क्लेश मिट जायेगा? उस ताप को दूर करने में समर्थ कोई भी शीतल पदार्थ नहीं है। इस संसारसंताप को दूर करने में यदि कुछ समर्थ है तो वह एक विवेक है, भेदविज्ञान है। कितने ही कष्ट आये हों, सबसे न्यारे अपने ज्ञानमात्र आत्मा को निरख लीजिए तो वे सब संकट एक साथ दूर हो जाते हैं। तो इन सब वेदनाओं का इलाज है विवेक। भेदविज्ञान से जब यह जान लिया कि मैं कामनाओं से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ और इस ही स्वरूप में अपने उपयोग को लगा दिया जाय तो ये समस्त संसारसंकट दूर हो जायेंगे। इसी उपाय पर हमें चलना चाहिए जिससे यह नरजीवन सफल हो जाय।

श्लोक- 610

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले।
स्मरज्वरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिण:।।

कामज्वलन और उसके शमन का उपाय- आचार्यदेव कह रहे हैं कि मैं ऐसा मान रहा हूँ कि ये जीव के समूह कामरूपी अग्नि से जल रहे हैं, तभी तो स्त्री शरीररूपी कीचड़ में प्रवेश करके डूबते हैं। एक परस्पर का प्रसंगरूप कीचड़ इसलिए ही लपेटते हैं ये मनुष्य कि वे काम अग्नि से तीव्र जल रहे हैं और केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय की ही बात क्या, सभी इन्द्रियों की इच्छायें इतनी तीव्र ज्वालाएँ हैं कि विवेक भी भस्म हो जाता है और उस विवेक रहित दशा में यही एकमात्र उपाय सूझता है कि विषयों के साधनों को जुटा लिया जाय। पर विषयों के साधनों के संचय से क्या यह कामनाओं की ज्वाला दूर हो सकती है? जितने-जितने समागम मिलते जायें उतनी ही तृष्णा और बढ़ती जाती है। जीवन तो समाप्त हो जाता है पर तृष्णा समाप्त नहीं होती। बुढ़ापे में भी जब कि यह शरीर शिथिल है मन भी काम नहीं देता, कमाते भी लड़के लोग है, कमाई में भी अब बुद्धि नहीं चलती है ऐसी स्थितियाँ हो जाती हैं, इतने पर भी तृष्णा दूर नहीं होती और इसी तृष्णा के कारण उन कमाऊ लड़कों के बीच-बीच बोलते रहते हैं, पर लड़के लोग मानते नहीं वृद्ध पुरुष की बात, क्योंकि उन्हें जिस उपाय से लाभ हो वही तो करेंगे। तब यह बूढ़ा अपनी कल्पनाओं से एक दु:ख यह

बढ़ा लेता कि मेरी बात कोई लड़का मानता ही नहीं। तो तृष्णा का परित्याग होना यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है। जिन्होंने कामवासना का परिहार किया, इच्छावों का परिहार किया और अपने आपके स्वरूप से अपने आपमें संभालने की ही रुचि की, वे पुरुष संकटों से दूर होते हैं। इस समय भी संकटों के ज्वलनों की बाधा दूर करने के लिए इसका ही प्रयोग करियेगा। चाहे थोड़ा ही हो सके। मैं सबसे न्यारा ज्ञानानन्दमात्र हूँ, इस आत्मभावना के प्रसाद से सर्वसंकट दूर होते हैं।

श्लोक- 611

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढयं योगिदूषितम्।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वित:।।

कामज्वरतृषा पीड़ित प्राणियों की विपन्नता- संसार के प्राणी कामज्वर की दाह से उत्पन्न हुई प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त आपत्ति के समूह रूप और असार इस दुर्गम संसाररूप मरुस्थल में यत्र-तत्र घूमकर दु:ख सहन करते हैं। पुराणों में कथा पढ़ी होगी पांडव के समय की जब पांडव और द्रोपदी अज्ञातवास में थे उस समय इन्होंने किसी एक राजघराने में अज्ञान रहकर भिन्न-भिन्न कार्यों की नौकरी करनी स्वीकार कर ली। वहाँ कीचक नाम का एक योद्धा प्रधान था। उसने कामवश होकर द्रोपदी को कुछ अकबक कहना शुरू किया, तो यह चर्चा जब भीम को मालूम हुई तो दूसरे दिन भीम स्वयं एक साधारण स्त्री के रूप में वहाँ पर गए। जब कीचक आया तो उसकी खूब मुगदर आदि अनेक शस्त्रों से खबर ली। यह तो एक पुराण की कथा है लेकिन इस जगत में इस तरह से पीटे जाने वाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। कामज्वर के वशीभूत हुआ यह प्राणी जैसे कोई ज्वर की दाह से उत्पन्न हुई प्यास से तो पीड़ित है और मरुस्थल में यत्र-तत्र प्यास बुझाने की आशा से भ्रमण करता है, इसी तरह से यह प्राणी है तो अन्य मानसिक कामव्यथा से पीड़ित, उससे उत्पन्न हुई है तृष्णा की वेदना, उसको मिटाने के लिए इस संसार में यत्र-तत्र भ्रमण करता है और जिन समागमों को यह अपनी शान्ति का कारण मानता है वे सब समागम इसकी तृष्णा और व्यथा को बढ़ाते हैं। जैसे मरुस्थल में प्यास मिटाने का क्या साधन है? बल्कि मरुस्थल का भ्रमण प्यास को ही बढ़ाता है, इसी तरह संसार के ये समागम आन्तरिक वेदना को मिटाने में क्या समर्थ हैं, बल्कि इनके संयोग में इनकी आशा से पीड़ित होकर दु:ख ही होता है।

श्लोक- 612

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्कितशयम्।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरीविजृम्भित:।।

कामवशी प्राणियों का घृणित कार्यों में प्रवर्तन- कामरूपी सिंह से चबाया गया यह मनुष्य ऐसे ऐसे घृणास्पद कार्यों को भी करता है जो योगियों के द्वारा अति निन्दित हैं, पाप से भरे हुए हैं, अत्यन्त क्रूरता का आशय जिनमें पड़ा हुआ है। अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि कोई पुरुष किसी परस्त्री में आसक्त हुआ या कोई स्त्री परपुरुष में आसक्त हुई तो अपने पति और स्त्री को अपने पापकार्य में बाधक जानकर उनको भी मार डालते हैं। कोई ऐसा घृणास्पद कार्य न होगा जो कार्य व्यभिचारी न कर सकता हो। जब सबसे निकृष्ट कार्य को व्यभिचारी ने कर डाला तो उसका सारा विवेक खतम हो गया, फिर तो उससे कौनसा घृणित कार्य नहीं हो सकता? जिस अन्तरङ्ग में विकल्पों से आशय दूषित बन गया है तो अन्य पाप इसके समक्ष और क्या हैं, जुवा खेलना, माँस खाना, मदिरापान ये भी ऐब उसमें आने लगते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना, ये कार्य तो उसके लिए न कुछ सी चीज बन जाते हैं। व्यभिचारी पुरुष पद पद पर झूठ बोलता है और साधन चाहिए तो उनके लिए चोरी करना भी उसे सुगम कार्य बन जाता है। संसार में अन्य कोई क्या घृणित कार्य कहा जाय, जो कामवेदनावश होकर प्राणी न कर सके। व्यभिचारी आदमी में दया होती नहीं। तो यह कामदाह से चबाया गया मनुष्य अत्यन्त निन्द्य पापमय बड़ी क्रूरतारूप अनेक खोटे कार्यों को कर डालता है। जिसके ऐसी खोटी वासना जगी हो वह धर्मकार्य क्या करेगा?

ब्रह्मचर्य से निष्कलुषता की सिद्धि- ब्रह्मचर्य से आत्मा में पवित्रता आती है। और इस ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही ऐसे शुद्धज्ञान का विकास होता है जिससे यह पर से भिन्न-निज चेतन स्वरूपमात्र अपने आपके दर्शन पाता है। लोक में अन्य किसी का भी दर्शन सुखदायी नहीं है, एक इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का दर्शन ही सुख को उत्पन्न करता है- बाकी तो सब भ्रमजाल है। ये दृश्यमान मायारूप मनुष्य स्वयं ही सुखी नहीं है, संसार में फिर किस दूसरे की आशा करते हो कि इससे मुझे शान्ति प्राप्त होगी? परजीवों से स्नेह का करना नियम से ही क्लेश का कारण है। मूढ़ता की बात तो यह है कि स्नेह से लाभ कुछ नहीं है, पर बुद्धि हरी गई अतएव व्यग्र हाकर वही पर का ही ध्यान बना रहता है और वह इस दुर्लभ मानव जीवन को बरबाद कर देता है। ब्रह्मचर्य ही ऐसा तपश्चरण है जिसके प्रसाद से सकल कलुषतायें दूर होती हैं वे सहज स्वरूप प्रकट होता है।

श्लोक- 613

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेत: स्वप्नेऽपि जायते।

मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम्।

कामवशंगत प्राणी की लक्ष्यभ्रष्टता- यह कामरूपी बैरी लोगों को दिशाभ्रम करा देता है। आगे चलना तो दूर रहो, दिशा तक का भी पता नहीं रहता है, चित्त को विभ्रमरूप कर देता है। जब यह जीव कामवश होकर लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया तो वह अपने अभीष्ट कार्य को कैसे सिद्ध कर सकता है।येकामी मनुष्य समस्त हितरूप कार्य को भूलकर एक मात्र अहितकारी कामसाधन काही चिन्तन किया करता है, यह मनुष्य पर बहुत बड़ी विपदा है।जो पुरुष, जो गृहस्थ गृहस्थ के योग्यव्रतों का पालन करके अपने जीवन को व्यतीत करता है वह पवित्र है, कल्याण का पात्र है, शान्ति निराकुलता उसके निकट है। अयोग्य कार्य करने वाले को शान्ति कहाँ से मिलेगी? शान्ति का पात्र तो सदाचारी मनुष्य ही होता है।

ब्रह्मचर्यव्रत से व्रतों की सफलता- मुख्य सदाचार है अहिंसा और ब्रह्मचर्य। यद्यपि अहिंसाव्रत में सभी आ गये फिर भी जो शेष 4 व्रत बताये जाते हैं वे अहिंसा के मुख्य साधन हैं, अहिंसा की पुष्टि के लिये भेद करके चार व्रत और बताये जाते हैं जिसमें ब्रह्मचर्य का भी खास स्थान है। कल्पना करो कि कोई मनुष्य द्रव्यरूप से अहिंसा भी पालता हो, किसी जीव को मारता नहीं, सत्य भी बोलता है, झूठ का त्याग करता है, चोरी भी नहीं करता, परिग्रह के संचय की भी कोई कामना नहीं है, इतने सब गुण होकर भी एक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करता हो, परद्रव्य, परजीव में स्नेह रख रहा हो, कामवासना का निरन्तर उद्यम रहा करता हो तो उस मनुष्य का कोई धर्मकर्म रहा क्या? अब अन्तरङ्ग में चित्त ही कलुषित हो गया तो फिर धर्मपालन किसका नाम है? तो यह कामरूपी बैरी इस जीव को उन्मत्त बना देता है, भयभीत बना देता है।

श्लोक- 614

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
लोक: कामानलज्वालाकलापकवलीकृत:।।

जो कामबाणों से बीधा है ऐसे जीव का चित्त क्षणभर के लिए स्वप्न में भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता। कामबाणों से बीधा हुआ जीव, जिसे एक कामासक्ति का व्यर्थ का विकार लग गया है उसका चित्त कैसे स्थिर हो सकता है, कहीं मन ही न लगेगा। कितना खोटा आशय है जिसका न कुछ आधार है, न कुछ लाभ की बात, बल्कि शरीरबल भी समाप्त करे, मनोबल भी समाप्त करे, वचन बल भी खराब कर दे, ऐसा यह काम रोग, यह कामबाण जिसके लगा है उस जीव का चित्त क्षण भर के लिए भी तो स्वप्न तक में भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता। सोते हुए में भी और जागते हुए में भी उसका चित्त अस्थिर रहता है जिसका चित्त अस्वस्थ

होता है उसको निद्रा में स्वप्न आया करते हैं खोटे, वे उसकी खोटी वासनाओं के सूचक हैं और जिनका चित्त स्वस्थ है, उन्हें धार्मिक भावनाओं के सूचक स्वप्न आया करते हैं। स्वप्न तो एक दिल का नक्शा बता दिया करते हैं। कैसी वासना लगी हुई है, कहाँ चित्त लगा रहता है इन सबको प्रकट बता देने वाला एक यह स्वप्न है। स्वस्थ चित्त में भी कामी मनुष्य का चित्त स्थिर नहीं रहता। ये सब दुराशय विवेक के बिना होते हैं।

सत्संगति से दुर्वासना के परिहरण का अनुरोध- सत्संगति और स्वाध्याय, इन दो का प्रयोग सुन्दर रहे तो उपयोग नियम से सुन्दर और स्थिर होगा। स्वाध्याय भी एक परम सत्संग है, क्योंकि उसमें भी गुणी और गुण की उपासना है। जिन्हें आत्मध्यान की रुचि है उसका कर्तव्य है कि स्वाध्याय और सत्संग से अपने चित्त को स्थिर रखें और शुद्ध ज्ञायकमात्र चैतन्यस्वरूप सिद्ध भगवंत की तरह अपने आत्मतत्त्व के दर्शन में उपयोग लगायें। संसार में अन्यत्र कहीं कुछ भी शरण नहीं है, चाहे सचेतन परिग्रह हो अथवा अचेतन परिग्रह हो किसी भी परिग्रह के समागम से इस जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

श्लोक- 615

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगा: सप्तैव देहिन:।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानका:।।

कामज्वालादग्ध प्राणी की अज्ञानता- कामरूपी अग्नि की ज्वाला से भस्म हुआ यह प्राणी जानता हुआ भी नहीं जानता, देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् वह ऐसा अचेत है, सत्य पदार्थ के निर्णय और अन्तस्तत्त्व के परिचय से इतना दूर है कि वह जान रहा है तो भी कुछ नहीं जान रहा। अटपट जानने का नाम ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान हित में लगाये और अहित से दूर करे ऐसे ज्ञान का ही नाम वास्तव में जानना है। आत्मा का हित है निराकुलता और निराकुलता बसी है स्वयं आत्मा के स्वरूप में। निराकुलस्वरूप स्वयं सहज आनन्द का धाम निज आत्मतत्त्व की भी सुध न हो फिर जो कुछ भी जानता है वह सब जानना उसका जानना नहीं है, वह कुबुद्धि का प्रसाद है। कामी पुरुष निहारेगा तो दुराशय से, कुछ जानेगा तो दुराशय से। उसका जानना देखना वास्तविक जानना देखना नहीं है। वह तो बेखबर है। उसे अपनी आपकी भी कुछ सुध नहीं है।

भेदविज्ञान के बिना आत्ममांगल्य की असिद्धि- भेदविज्ञान की बड़ी महिमा है। भेदविज्ञान बिना यह जीव जिस चाहे चेतन अचेतन परिग्रह से लगाव लगाकर अपने को विह्वल बनाये रहता है। शरण केवल आत्मदृष्टि है, ऐसा जानकर उस आत्मदृष्टिरूपी महान यज्ञ के लिए इन इन्द्रिय विषयों की बलि करें, इनकी होली करें और जो आत्मतत्त्व का ज्ञान है, सत्य वैराग्य है, इन दो भावों से अपनी प्रीति बढायें। यदि ऐसा किया जा सका तो

हम कल्याणपथ के पथिक हैं अन्यथा जैसे संसार में अनादि से रुलते आये वैसे ही रुलते रहना होगा। जानें देखें अपने आपको। अन्य सारी कुबुद्धिवश परविषयक व्यवस्था का लक्ष्य न बनायें। यदि अपन आत्मव्यवस्था कुछ भी न कर सके तो समझिये मैंने अपना कुछ भी व्यर्थ में जन्म नहीं किया व्यमलिया और मनुष्यभव का अपना अमूल्य लाभ खोया। कर्तव्य है स्वाध्याय और सत्संगति बढ़ावें। परपदार्थों में मोह ममता न जगे, ऐसा अपने अन्दर में विवेक जगायें।

श्लोक- 616

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम्।

पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे।।

नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभि:।
एतैर्वेगै: समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति।।

कामदष्ट प्राणी के सर्पदष्ट प्राणी के वेगों से भी अधिक और भयंकर वेग- कामवेदना से जो मानसिक व्यथा का वेग उत्पन्न होता है उस सम्बंध में कह रहे हैं कि सर्प से काटे हुए प्राणी के तो 7 ही वेग होते हैं पर कामरूपी सर्प से डसे हुए जीव में 10 वेग होते हैं जो बड़े भयानक हैं। किसी प्राणी को सर्प डस ले तो लोगों ने देखा भी होगा और प्रसिद्ध बात है कि उसके 7 बार कुछ नई-नई दशा बेहोशी की बनती है। किसी वेग में बेसुध होकर कुछ अकबक बोलने लगता है। यों सर्प के डसे हुए प्राणी के 7 वेग होते हैं परन्तु कामरूपी सर्प से डसे हुए प्राणी के 10 वेग होते हैं। जिनके चित्त में मन से उत्पन्न हुई काम सम्बन्धी वेदना उठती है उन पुरुषों के ये 10 प्रकार के वेग होते हैं। अर्थात् ऐसी 10 स्थितियाँ होती हैं जिन स्थितियों में चढ़ाव चलता रहता है और अन्त में इस मनुष्य का मरण हो जाता है। वे 10 वेग कौनसे हैं, इसे अब क्रमश: बतलाते हैं।

श्लोक- 617

काम का प्रथमवेग संपर्कचिन्ता- जिस पुरुष के काम उद्दीप्त हुआ है उसके पहिला वेग तो होता है चिन्ता। कामवासनारूपी सर्प ने जिसे डसा है, जिसके कामवेदना होती है, इच्छा होती है ऐसे प्राणी को पहले तो चिन्ता होती है। अब इस वेग को मनुष्यों पर घटाया जा रहा है। कामवेग पुरुष और स्त्री दोनों में सम्भव है तो दोनों में अर्थ समझते जाना। यहाँ घटा रहे हैं पुरुषों पर। जिस मनुष्य को काम इच्छा जगती है उसको पहले चिन्ता होती है कि अमुक स्त्री का सम्बन्ध कैसे हो?

काम के वेग का एक पौराणिक उदाहरण- कभी पुराण चरित्र में सुना ही होगा कि जब नारद जनक के घर गये तो उस समय जनक की पुत्री सीता दर्पण को देखकर अपने केश सँभाल रही थी। बीच में आ गए नारद। तो नारद का स्वरूप बाल बिखरे हुए एक चद्दर ओढ़े सितार लिए हुए था। ऐसी दर्पण में उनकी छाया पड़ी। उस छाया को देखकर सीता भयभीत हुई और एकदम से चिल्लाकर वह घर के भीतर चली गयी। उस घटना से नारद जी ने अपना अपमान समझा। नारद ब्रह्मचर्य के अधिकारी हुआ करते हैं, कौतूहलप्रिय होते हैं। नारद को रानियों के आवास में भी जाने का अधिकार रहता है। राजागण उन्हें अच्छी दृष्टि से देखते हैं। किसी को उनके प्रति कोई शंका नहीं रहती। वे अपनी कौतूहलप्रियता में कभी किसी का भला करा देते हैं और जिस पर क्रोध आ जाय उसका बुरा करा देते हैं। तो नारद को उस घटना को देखकर बहुत क्रोध आया और मन में ठान लिया कि हम इस बेटी को सजा देंगे। तब क्या उपाय रचा कि सीता का एक बहुत सुन्दर चित्र बनवाया और उसे ले जाकर विद्याधर के नगर में जहाँ सीता का भाई भामण्डल रहता था, जन्म से जो हरा गया था। भामण्डल के आगे पीछे कहीं जहाँ वह रहता था चलता फिरता था, वह चित्र डाल दिया और नारद किसी पेड़ पर जाकर बैठ गये। जब भामण्डल ने उस चित्र को देखा तो एकदम वह कामव्यथित हो गया, उसे क्या पता था कि यह मेरी बहिन सीता का चित्र है। उस चित्र की सुन्दरता देखकर और अनुमान करके भामण्डल का चित्त काम से व्यथित हुआ और उसके चिन्ता उत्पन्न हुई, इसका सम्पर्क कैसे हो? तो काम-सर्प से डसे हुए प्राणी को प्रथम वेग चिन्ता का उत्पन्न होता है। फिर आगे क्या हुआ, यह कथा तो आगे की है। आखिर उस भामण्डल के और और वेग हुए, सीता से विवाह करने के लिए ढूँढ़ने के लिए वह गया भी, पर रास्ते में कुछ जातिस्मरण होने से उसे बोध हुआ कि यह तो हमारी बहिन सीता का चित्र है, फिर उस संकल्प को छोड़ दिया। तो काम से डसे जाने पर प्रथम वेग तो होता है चिन्ता।

काम की द्वितीय वेग देखने की इच्छा- काम के द्वितीय वेग में उस कामव्यथित पुरुष को देखने की इच्छा होती है और देखने की इतनी तीव्र इच्छा जग जाती है कि वह अपने को सँभाल नहीं पाता। जैसे अंजना सुन्दरी का पवनञ्जय से विवाह निश्चित हो गया। विवाह के तीन दिन शेष रहे लेकिन यह दूसरा वेग, देखने की

इच्छा इतनी तीव्र जगी कि उसने अपने मित्र से कहा कि अब हमारे प्राण नहीं रह पाते हैं, अञ्जना को देखने में ही प्राण रहेंगे मित्र ने बहुत समझाया कि दो तीन दिन धैर्य रखो विवाह का निश्चय तो हो ही चुका है लेकिन वह न मान सका और मित्र के साथ ही रात्रि को चल उठा। तो वह उस वेग में अपने को सँभाल तो न सका। फिर क्या हुआ यह बात आगे की है, लेकिन देखना यहाँ यह है कि काम के उद्दीपन होने पर चिन्ता के बाद द्वितीय वेग देखने की इच्छा का हो जाता है।

काम का तृतीय वेग लम्बी निश्वासों का चलना- इस कामरूपी सर्प से डसे हुए मनुष्य के तीसरे वेग में लम्बी-लम्बी श्वासें निकलने लगती हैं। द्वितीय वेग में तो देखने की इच्छा हुई थी, देख पाया हो या न देख पाया हो अथवा देख ही न पाया, अब तीसरे वेग में बड़ी बड़ी श्वासें लेता है और जब कोई बड़ी चिन्ता और बड़ा सदमा पहुँचता है तो उस स्थिति में यह होने लगता है हाय ! सम्पर्क न हुआ, देख न पाया, ऐसी कल्पनाओं का साकाररूप श्वासों का निकलना होता रहता है। जैसे कभी किसी को देखा होगा कि कोई बड़ी चिन्ता में बैठा हो- चाहे किसी बात की चिन्ता हो तो उस चिन्ता में उसकी लम्बी श्वासें निकलने लगती हैं। तो काम के तृतीय वेग में यह मनुष्य दीर्घ श्वासें लेता है।

काम का चतुर्थ वेग ज्वर- जब काम का चतुर्थ वेग आता है तो उस चतुर्थ वेग में ज्वर आ जाता है। भला चिन्ता हुई, देखने की इच्छा हुई, दीर्घ श्वांसें खिंचने लगी, इतना तीव्र अटपट बिना जड़ मूल का आक्रमण होता है तो उसमें ज्वर जैसी बात आना कोई असम्भव तो नहीं। तो कामव्यथा की पीड़ा से चतुर्थ वेग में ज्वर हो जाया करता है।

श्लोक- 618

संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमा:।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम्।।

काम के पाँचवें वेग में शरीर का दग्ध होना- काम के 5 वें वेग में यह शरीर जलने सा लगता है। जैसे दाह की उत्पत्ति हुई हो ऐसा शरीर दग्ध होने लगता है, क्षीण होने लगता है। तब समझिये कि जैसे किसी को पुराना ज्वर हो जाय, टी. वी. जैसा कोई ज्वर हो जाय तो उसका शरीर कितना दुर्बल हो जाता है? भीतर में उसकी बड़ी तेज गर्मी होती है। चाहे शरीर के बाहर गर्मी न मालूम पड़े, किन्तु जिसके पुराना ज्वर है हड्डी पर ज्वर है, टी. बी. का ज्वर है उसके अन्दर से तृष्णा उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि उसके हाथ पैर भी बहुत जलने लगते हैं। तो यहाँ काम के वेग में ऐसी हालत होने लगती है कि यह शरीर दग्ध होने लगता है।

काम के छठवें वेग में भोजन का नहीं रुचना- फिर छठवें वेग में भोजन भी इसे नहीं रुचता। कैसा उपयोग इसका खोटे विषय की ओर तेजी से गया है कि जिस कुवासना के कारण इसे भोजन भी नहीं रुचता। जो अन्न, जो भोजन प्राणों का आधारभूत है, शरीर की स्थिति रखने का कारण है वह भी रुचिकर नहीं लगता। यों छठे वेग में इसकी ऐसी दयनीय दशा हो जाती कि खाना भी छूट गया, मित्रजन परिवार के लोग मनाते हैं भाई खावो, जिस किसी को पता ही न हो वह समझायेगा क्या? अगर पता हो कि अमुक कुंवर साहब ऐसे ज्वर से पीड़ित हैं तो परिवार के लोग भी उसके लिए अथक श्रम करने लगते। तो छठे वेग में भोजन भी नहीं रुचता।

काम का सप्तम वेग महामूर्छा- जब काम का सातवाँ वेग आता है तो इसे महामूर्छा हो जाती है। बेहोश पड़ जाता है, ढीले ढाले हाथ पैर फेंककर बड़ी लम्बी श्वास लेकर पड़ जाता है। कोई पूछे कि तुझे रोग क्या हुआ है, कौनसी पीड़ा हुई है तो कोई क्या बताये? कोई रोग नहीं, पीड़ा नहीं, कोई पीटता नहीं, कुछ बात नहीं, बस मन की बात कल्पना बना ली, उस कल्पना के अनुसार संयोग न हो सका तो वह अचेत हो जाता, बेहोश हो जाता। कोई कुछ कहे तो सुनाई भी नहीं देता।

काम का अष्टम वेग उन्मत्तता- 8 वें वेग में यह पुरुष उन्मत्त हो जाता है, पागल हो जाता है। यहाँ से वहाँ दौड़ता घूमता है, हैरान होता है, परेशान होता है, यों काम के अष्टम वेग में उन्मत्त जैसी चेष्टायें हो जाती हैं। जैसे पुराणों में सुना गया है, कुछ पुरुषों के बारे में अथवा आधुनिक सिनेमा थियेटर वगैरह में भी घटनाएँ दिखती हैं कि अनेक मनुष्य इसी से पागल हो जाते हैं। और, जब दिमाग ही फेल हो गया तब तो बेइलाज हो गया। जब तक बुद्धि ठिकाने है, ज्ञान सही है, दिमाग फेल नहीं हुआ तब तक तो किसी का समझाना भी काम करेगा। जब दिमाग ही उल्टा बन गया फिर समझाने का भी इलाज नहीं बनता। यों काम के 8 वें वेग में यह पुरुष उन्मत्त हो जाता है।

श्लोक- 619

अपि मानसमुत्तुङ्गनगश्रृङ्गाग्रवर्तिनाम्।
स्मरवीर: क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम्।।

काम के नवम और दशमवेग में प्राणसन्देह व प्राणवियोग- काम के 9 वें वेग में प्राणों का भी संदेह हो जाता है कि मेरे प्राण रहेंगे भी या न रहेंगे, जिन्दा रह सकेंगे या न रह सकेंगे। व्यर्थ की केवल मन की वासना से दिल पर इतना तीव्र असर हो जाता कि उसे अब प्राणों का भी संदेह होने लगा। जैसे आर्थिक घाटा या इष्टवियोग या अनहोनी बात गुजरने पर दिल पर इतना तीव्र असर होता कि वह पुरुष यह अंदाज

कर लेता है कि अब मेरा जीना कठिन है। यों तो काम के 9 वें वेग वाले के प्राणों का संदेह हो जाता है कि अब मेरे प्राण रहेंगे या नहीं। और जब किसी चीज में सन्देह हो जाता तो जो बात अनिष्ट है उस पर ज्यादा बल देने लगता है। मैं अब जिन्दा रहूँगा या न रहूँगा, ऐसा संदेह होने पर कि मैं जिन्दा न रहूँगा, इस ओर ध्यान ज्यादा जाता है। जो बात अनिष्ट होती है उसकी ओर बुद्धि विशेष जाती है संदेह होने पर। तो यों काम के 9 वें वेग में इस मनुष्य को अपने प्राणों का भी संदेह हो जाता है और 10 वें वेग में अपने प्राण भी छोड़ देता है, मरण हो जाता है।

काम के वेगों का अनर्थ- जैसे सर्प के डसने पर 7 वेग होते हैं, 7 बार मेहा फूटती है इसी तरह इससे भी कठिन वेग काम से व्यथित मनुष्य के 10 वेग होते हैं और अन्त में यह अपने प्राण गंवा देता है। ऐसे ही 10 वेगों से आक्रान्त हुआ प्राणी इन वेगों से दबा हुआ है। वह मनुष्य यथार्थ तत्त्व को नहीं देख सकता। वस्तु का स्वरूप क्या है, इसकी ओर उसका चित्त नहीं जाता। जब लोकव्यवहार का ही ज्ञान नहीं रहता तो परमार्थ का ज्ञान कैसे हो? कुछ समय पहले लोगों में इतना विवेक बना रहता था कि जिससे लोकलाज बनी रहती थी। कोई लड़का माता पिता के सामने स्त्री सम्बन्धी बात न करता था, सगाई सम्बन्धी बात हो तो उसमें कुछ भी संदेश नहीं पहुँचा सकता था। और, बच्चे हो जाने पर भी अनेक वर्षों तक माता पिता के सामने बच्चे को न लेता था, इतनी लोकलाज, इतना विवेक था, उनमें मोह का कम वेग रहता था। आज देखते हैं तो लड़का ही कन्या देखे, सगाई पक्की करे, विवाह हुआ कि वे दोनों सड़कों पर एक साथ घूमने जाते। और, और क्या क्या बातें होती हैं? भले ही वह आज की सभ्यता मान ली जाय लेकिन यह तो कहना ही होगा कि इस सम्बन्ध वाली लाज नहीं रही।

कामवेगों में परमार्थज्ञान की असंभवता- यहाँ यह बात बतला रहे हैं कि जब काम के इस वेग में लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं रहा तब परमार्थ का ज्ञान कैसे हो, आत्मा के स्वरूप का बोध तो होगा ही क्या? जैसे लोकलाज जब यहाँ व्यवहार में ही नहीं रही तो उसका दुष्परिणाम तो यह निकला कि माता पिता के आदर में कमी हो गयी। कभी बहू का माँ से झगड़ा हो जाय तो वह लड़का अपनी माँ का ही दोष देखेगा। और स्पष्ट शब्दों में माँ को ही बुरा कहेगा। कैसे ये बातें निकल आती हैं लड़के से, दूसरे लोग इस पर आश्चर्य करते हैं, लेकिन जिसके लोकलाज ही नहीं रही, विनयभाव ही नहीं रहा और एक सम्बन्ध की ओर ही बेखटके प्रगति बनायें तो ये सब बातें होती हैं, वे माता पिता का क्या आदर करेंगे? यों ही समझिये कि जब कामवेग में लोकव्यवहार भी नहीं रख सका, पागल बना, बेहोश बना और अन्त में प्राण भी खो दिया तो ऐसे विकट वेदना वाले पुरुष के परमार्थ ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कैसे हो?

श्लोक- 620

शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते।

दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया।।

संकल्पानुसार कामवेगों की हीनाधिकता- ये कामसम्बन्धी वेग किसी को 10 आते हैं, किसी को कुछ थोड़े रह जाते हैं, किसी को मंद होते हैं। तो यों संकल्प के वश से कामज्वर के प्रकोप के तीव्र, मंद, मध्यम होने से वेग भी अनेक प्रकार के हो जाते हैं। अतएव सबमें ये एक से ही वेग हो यह नियम नहीं है। लेकिन जिसमें अधिक कामासक्ति है उसका अधिक से अधिक क्या अनर्थ हो जाता है इस बात को इस वेग के ढंग में समझाया गया है। कामी पुरुष की यह स्थिति होती है कि प्रथम चिन्ता से प्रारम्भ करके अन्त में अपने प्राणों को भी गंवा देता है।

श्लोक- 621

प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम्।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा।।

लोकबलशाली पुरुषों का भी कामवीर द्वारा मानखण्डन- कोई पुरुष अपने बल के कारण मानरूपी ऊँचे पर्वत की शिखर पर चढ़ा हुआ रहता हो, कोई पुरुष धन बल से, विद्याबल से अन्य-अन्य बलों से शिखर पर चढ़ा रहता हो, वह लोकबल में उच्च भी हो, लेकिन ऐसे पुरुष का भी मान यह कामरूपी बैरी क्षणभर में खंडित कर देता है। काम की ज्वाला के सामने किसी का मान भी नहीं रहता। इतना निष्कृष्ट है यह काम भाव। यह काम नीच से नीच काम कराकर ऐसे बड़ों को भी उसके मानरूपी पहाड़ को धूल में मिला देता है। अनेक ऋषि जो अपने तपश्चरण से कुछ बहुत ऊँची साधना तक भी पहुँच गए थे उनमें से कोई कोई ऐसी इस विद्या सिद्धि के बहाने से धीरे धीरे उस काम की ओर बढ़कर पतित हुए कि उनका निर्वाण समाप्त हो गया। भले ही वे कुछ अपने चमत्कार के कारण लोक में देवता रूप से मान लिए गए हों, लेकिन श्रेयोमार्ग से तो च्युत हो ही गए। तो बड़े से बड़े अभिमानशाली पुरुषों का भी मान इस काम के वश होकर नष्ट हो जाता है। जो पुरुष इन्द्रिय के विषय में आसक्त नहीं रहता वही पुरुष सुरक्षित रह सकता है, लेकिन जैसे ही कोई भी पुरुष इस मनोजविकार से व्यथित हुआ कि उसका अभिमानरूपी पहाड़ सब धूल में मिल जाता है। जो पुरुष काम व्यथा से अत्यन्त दूर होता है वही आत्मध्यान का पात्र होता है। इस तथ्य को बताने के प्रकरण में इस काम की निन्दा की जा रही है कि यह कामविकार कितना अहितकारी भाव है।

श्लोक- 622

नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम्।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यत:।।

कामपीड़ितों की नीचदासता- कामदेव की आज्ञा इन तीन जगत के जीवों के सिर पर ऐसी चल रही है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुष भी जिनके ज्ञान का साम्राज्य है लेकिन वे भी अपने शीलरूपी कोट का उल्लंघन करके सम्भोग के लिए चाण्डाल की स्त्री का भी दासत्व स्वीकार कर लेते हैं। याने काम के वश होकर बड़े-बड़े बुद्धिमान भी राजा-महाराजा तक भी चाण्डाल की स्त्री तक के भी दास हो जाते हैं और जो जो भी वह नाच नचाती है वे सभी नाच उन कामी पुरुषों को नाचने पड़ते हैं। कुछ कथन में तो ऐसा भी आया कि हैं तो बड़े उच्च कुल का राजा वह किसी नीच कुल की कन्या में आसक्त हुआ तो विवाह के प्रसंग में यह प्रतिज्ञा कर डाली कि इससे जो बच्चा होगा उसे राज्य देंगे। जो कुलीन हैं, पटरानी हैं, बड़े घर की हैं उनकी वे उपेक्षा कर देते हैं। तो यह नाच नाचना ही तो हुआ। जैसा नाच उसने नचाया वैसा नाच उन काम पुरुषों को नाचना पड़ता है। यों कामव्यथा से पीड़ित पुरुष आत्मा की सुध नहीं ले सकता। भैया ! आत्मध्यान ही वास्तविक शरण है, जिन्हें आत्मध्यान की अपनी प्रकृति बनाना है उन्हें इन ब्रह्मचर्य का मन, वचन, काय से पालन करना होगा।

श्लोक- 623

वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम्।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्त: प्रपश्यति।।

कामव्यथा से श्रुत, सत्य व धैर्य का निरोध- जब कामव्यथा उत्पन्न होती है तो वह जीव के बहुत दिनों से पाले गये चारित्र का भी विनाश कर देती है। एक इस मनोज वेदना से इतना विह्वल हो जाते हैं प्राणी कि जो उचित काम है शास्त्र का अध्ययन, धैर्य का धारण, सत्यसम्भाषण ये सब भी उसके नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कामवश ऋषिजन भी अपने चारित्र का विनाश कर लेते हैं और जो जिस पद में है उस पद के योग्य भी धर्मपालन का पात्र नहीं रह पाता, ऐसा यह निर्मूल कामव्यथा का प्रभाव है।

श्लोक- 624

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसा:।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वर:।।

काम शल्य पीड़ितों के चित्त की अस्थिरता- जिनको कामवासना की शल्य बनी रहती है वे पुरुष कभी भी तो स्थिर नहीं रह पाते, न स्थिरता से बैठ सकते, न सो सकते, न चल सकते, न भोजन कर सकते। वे क्षणभर भी स्थिरता से नहीं रह सकते, उनका चित्त डांवाडोल बना रहता है। आत्मा का सर्वस्व उपयोग है, जब यह उपयोग बिगड़ गया, ज्ञान में विकार आ गया, राग द्वेष मोह की वेदना जग गयी फिर यह प्राणी विवश हो जाता है और उन्मत्तसा स्थिर होकर यत्र-तत्र डोलता है। उन्मत्त होने के कारण में प्रधान कारण है यह कामव्यथा। वैसे अन्य कारणों से भी उन्मत्तता आ जाती है। जब तृष्णा का वेग होता है, परिग्रह की तृष्णा बढ़ती है तो उसमें यह इतना अंध हो जाता है कि वहाँ भी इसका ज्ञान बुद्धि सब जाते रहते हैं और जब अपने मन के अनुकूल धन संचय नहीं हो पाता अथवा कोई अधिक घाटा पड़ जाता है तो उस समय ऐसी वेदना अनुभव करता है कि उसका ज्ञान बुद्धि सब विकृत हो जाते हैं। इसी प्रकार मान कषाय में भी वेग आये और मान के अनुरूप बात न बने तो वहाँ भी ज्ञान विकृत हो जाता है और पागलपन की स्थिति आ जाती है। जितने भी कारण है पुरुष को उन्मत्त बनाने के, उन सब कारणों में प्रधान कारण है यह कामव्यथा। कामव्यथा से पीड़ित मनुष्य न पागल हो तब भी पागल हो जाता। फिर उसे न बैठने में, न सोने में कहीं भी स्थिरता नहीं रहती, वह निद्रा भी बराबर नहीं ले पाता, बराबर घबड़ाता रहता है, नींद उचट जाती है, न स्मरण करता है और जैसे कि ऊपर बताये गए काम के 10 वेग होते हैं उन वेगों में बह जाता है। आखिर कामी पुरुष की अन्त में दुर्गति ही होती है।

ज्ञान की सुस्थिति में समृद्धि- मनुष्य का भला अथवा मनुष्य को शान्ति एक शुद्ध ज्ञान बनाये रहने में प्राप्त होती है। इसके सिवाय जीव का और कुछ धन नहीं है। ज्ञान बिगड़ा तो सब बिगड़ा। जो उन्मत्त पुरुष होते हैं, घर के बड़े रईस लड़के हैं और किसी कारण उन्मत्तता आ गयी तो सब लोग कितना भी यत्न करते हैं उसको सुखी करने के लिए, पर वह सुखी कैसे हो? जब ज्ञान विकृत हो गया तो सुख का कोई साधन नहीं रहा। विकार हो गया। पागल पुरुष का जीवन कोई जीवन है क्या? जो कोशिश यह होनी चाहिए सर्वत्र की हमारा ज्ञान विवेकपूर्ण बना रहे, विषय और कषायों में चित्त न उलझने को ही विवेक का प्रवर्तन कहते हैं। कैसी भी स्थितियाँ आयें अपने आपमें क्रोध न जगने दें, ऐसा ज्ञान बनायें तो उस घटना पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। कैसी भी प्रशंसा मिले, ऊँची स्थिति बने, वैभव मिले लेकिन मान न जगे तो उसका ज्ञान सत्पथ पर

विहार करने लायक रहता है। जहाँ किसी प्रसंग में क्रोध जगा, मान जगा, माया लोभ चलने लगा बस वही उसका पतन होने लगता है।

सम्पदासमागम में विवेक- संसार में मान के लायक वस्तु है क्या? जो वैभव जिसे प्राप्त हुआ है उससे कई गुना वैभव अनेक जन्मों में स्वयं ने प्राप्त किया होगा। इसके तो मोह की ऐसी बात है कि जब जो वैभव मिलता है उसे ही अपना लेता है और उस ममत्व के कारण विश्राम से रह भी नहीं सकता और न धर्मपालन कर पाता है। और, कभी कोई पुरुष इसके विरुद्ध ऐसा भी चिन्तन करता है कि हम दीन हैं, कुछ भी नहीं है हमारे पास।

एक दृष्टि से देखो तो जिसके पास जो भी द्रव्य है वह उसकी आवश्यकता से कई गुना अधिक है, एक निहारने भर की बात है। यदि आशंका हो कि हम कैसे समझें कि हमारे पास कई गुना अधिक है आवश्यकता से तो उसका प्रमाण यह है कि जैसे हम मनुष्य हैं अथवा सभी मनुष्य हैं अथवा जिस बिरादरी के हम हैं उसी बिरादरी के अन्य लोग भी हैं। जिस देवता को, जिस शासन को हम मानते हैं उस ही शासन को मानने वाले अन्य लोग भी हैं। जितनी पवित्रता हम कमा सकते हैं उतनी ही पवित्रता ये गरीब लोग भी जिनके पास अपने से 50 वाँ भाग ही वैभव होगा वे भी अपना जीवन चलाते हैं, प्रसन्न रहते हैं और धर्मपालन करते हैं। केवल एक लोकप्रतिष्ठा अथवा पर्यायबुद्धि के कारण ऐसा लगने लगता है कि हम कुछ भी नहीं हैं, हम तो दीन हैं, यों विवेक करके अपने आपमें निराकुलता बना लेना यह खास चीज है। जो प्रयोग करेगा, अपने आपमें घटित करेगा वही तो निराकुलता प्राप्त कर सकता है। धर्मात्मा परोपकारी पुरुष किसी भी स्थिति में हो, बाह्य वैभव की दृष्टि से उसका कहीं भी न अपमान है और न उसका अवनयन है। तो विवेक उसी को कहते हैं कि जिसमें अपना ज्ञान सही बने और जो जैनशासन ने उपदेश किया है उसका हम पूरा लाभ उठायें।

सम्यग्ज्ञान की हितकारिता व दुर्लभता- संसार में अत्यन्त दुर्लभ चीज है सम्यग्ज्ञान। इससे और दुर्लभ कुछ वस्तु नहीं है। आत्मा अपने आप स्वयं ज्ञानमय है, यह स्वयं अपने ज्ञानस्वरूप को समझ ले, इतनी सी निज घर की बात, अपने पते की बात इस संसार में सबसे अधिक दुर्लभ है। बाह्य निमित्तनैमित्तिक भावों से ऐसी सम्पदायें समागम मिल जाना ये सब सुलभ हैं, पर दुर्लभ है तो एक यथार्थ ज्ञान बनना ही दुर्लभ है। क्योंकि एक इस जन्म की संगति से अथवा आवश्यक वस्तुवों से हमारा पूरा नहीं पड़ सकता। जो पदार्थ सत् है उसका कभी नाश न होगा। हम केवल इस भव की व्यवस्थावों में ही उलझे रहे और इस भव की पोजीशन सम्हालने में ही उलझे रहे तो इससे कुछ पूरा तो नहीं पड़ने का। न वर्तमान में शान्ति मिलती और न परलोक भी सुधरता। इसके विरुद्ध उपेक्षा भाव से रहने में अपने आपके निकट बसने में इस लोक में भी आनन्द रहता है और आगे भव में भी आनन्द रहेगा, धर्म का समागम मिलेगा। तो सबसे दुर्लभ चीज है सम्यग्ज्ञान। और, उसके निकट दुर्लभ चीज समझिये धर्म का वातावरण मिलना।

आत्मतर्पण की आवश्यकता- दिन रात में कोई आध पौन घंटा धर्म की बात सुनने को मिले, चर्चा करने को मिले और धर्मरुचिया पुरुषों का यथा समय संग मिलता रहे, यह भी बड़ी दुर्लभ चीज है? केवल पुद्गल के ढेर से ही, वैभव से ही इस आत्मा को क्या मिलेगा, शान्ति सन्तोष। इसको तो ज्ञान की खुराक चाहिए। शरीर को तो चाहिए भोजन की खुराक जिससे शरीर स्वस्थ रहे और आत्मा को चाहिए ज्ञान की खुराक जिससे आत्मा स्वस्थ रहे। हम अस्वस्थ और उद्विग्न रहते हैं, इसका कारण यह है कि हम अपनी खुराक पर दृष्टि नहीं देते हैं। जब कभी भी आप केवल अपने आपको आप ही शरण जानकर अपने आपको केवल आप ही जिम्मेदार मानकर, आपके आप ही स्वामी हैं ऐसा मानकर पर से चित्त हटाकर इस शरीर से भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनेक बार चिन्तन करें और इस झुकाव के साथ जैसे मैं शरीर से भी और भीतर हम कहीं अपनी दृष्टि लिए जा रहे हैं ऐसी प्रकृति से अपने आपको विचारें।

विशुद्ध अवलोकन- भैया ! निज को तो यों निरखें मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, मेरा कार्य केवल जाननमात्र रहना है व व्यक्तरूप में सर्वत्र निरखें तो यह निरखें कि सब कार्यों के प्रसंग में भी मैंने केवल ज्ञान का परिणमन बनाया, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य नहीं किया। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान का परिणमन होना यह मेरा कार्य है। और ज्ञान का परिणमन जिस पद्धति से होता है उस पद्धति से सुख दु:ख अथवा आनन्द भोगना यह मेरा अनुभवन है, इसके अतिरिक्त न कहीं सम्पदा है, न कहीं मेरा सत्त्व है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ। इस प्रकार ज्ञानमात्र निजतत्त्व की बारबार भावना बने तो परमविश्राम होने के कारण अपूर्व विलक्षण आनन्द जगता है। यही आनन्द विविक्त साधुसंतों के निरन्तर रहा करता है जिससे वे अकेले रहकर भी निर्दोष व प्रसन्न रहा करते हैं। अहो, कहाँ तो आत्मा का इतना विलक्षण स्वकीय आनन्द और कहाँ कर्मप्रेरणा से अशुचि शरीर में स्नेह जगाकर कामवासना की व्यथा बढ़ाने जैसी दुर्दशा? जो कामपीड़ित जन हैं उनका चित्त कहाँ स्थिर होगा और उनको आत्मा के सुध का भी अवसर कहाँ मिल सकेगा?

धर्म के अवलम्बन से समृद्धि का लाभ- इस ग्रन्थ में आत्मध्यान की बात कही जा रही है। उस ध्यान का पात्र वही पुरुष होता है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अंग का पालन करता है। ध्यान के ये तीन अंग हैं। मोक्षमार्ग भी इन तीनों की एकता है। आत्मशान्ति का भी यही एक उपाय है। धर्म की ओर से शंकित चित्त जब तक रहता है तब तक उसकी यह दशा है कि न यहाँ का रहा, न वहाँ का रहा। जो केवल अपने स्वभाव पर दृढ़ निर्णय रखता है और धर्मपालन से ही आत्मा का उद्धार है, अपने आपके उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप निहारने के धर्मपालन में ही आत्मा का सत्य उद्धार है, ऐसा जिनका दृढ़ निर्णय है उनके पुण्य का बंध अनायास होती ही है, जैसे कि खेती करने वाले किसानों को भूस का ढेर अनायास ही प्राप्त होता है। किसान भूसा पैदा करने के उद्देश्य से खेती नहीं करता, ऐसे ही जो धर्म के रुचिया हैं उनके विशिष्ट पुण्य का बंध तो स्वयमेव होता है। धन वैभव का मिलना हाथ पैर चलाने या कोई दिमागी कला खेलने का फल

नहीं है। धर्म की रुचि होना इससे बढ़कर और कुछ आत्मा का हित नहीं, वैभव नहीं। उसी के प्रताप से इसका विवेक ज्ञान सब जागृत रहता है।

श्लोक- 625

अनासाद्य जन: कामी कामिनीं हृदयप्रियाम्।
विषशास्त्रानलोपायै: सद्य: स्वं हन्तुमिच्छति।।

कामार्त पुरुष द्वारा अनिष्ट का अनवलोकन- विषयकषायों का वेग एक इतना गहन अंधकार है कि इस अंधकार में फंसे हुए पुरुष अपना धन चारित्रबल इनके नाश होने को भी नहीं देखते, कलंक को भी नहीं देखते और मरण भी निकट आ जाय तो उसे भी नहीं देखते, हित अहित का कुछ भी विचार उनके नहीं रहता। लौकिक सुख की प्रधानता भी उसी के होती है जिसके कुछ ज्ञान जगता है तो ज्ञान का भी लौकिक सुख में बड़ा हाथ है। जो लोग बड़े-बड़े वैभव की रक्षा और अर्चना करते हैं वे मनुष्य भी ज्ञानबल पर ही कर रहे हैं। सारे लौकिक बल भी ज्ञानकला पर ही निर्भर है। जहाँ अज्ञान है वहाँ विवाद कलह सारे मचे रहते हैं। अपने ज्ञान को सुरक्षित रखना है तो सत्संगति और स्वाध्याय आदिक द्वारा अपने ज्ञान को विषय और कषायों से अधिकाधिक दूर रखने का प्रयत्न करें।

ज्ञान से आपत्ति के दूरीकरण पर एक दृष्टान्त- एक कथानक है कि एक संस्कृत का वृद्ध पंडित, उसकी वृद्ध पत्नी, सबसे छोटा लड़का और बहू किसी गाँव को जा रहे थे, रास्ते में एक जंगल पड़ा, उसमें करीब 2 मील ही पहुँचें होंगे कि शाम होने को हुई। तो जो रास्तागीर वापस आ रहे थे उन्होंने कहा कि यह जंगल बहुत मील लम्बा है, इसमें बहुत से भूत राक्षस रहते हैं, वे पहिले कुछ सवाल करते हैं अगर उनका उत्तर न दे सके तो वे प्राण हर लेते हैं। इसलिए आप यहाँ से लौट जावो इसी में कुशलता है। उन सबने सोचा कि अब लौटने का काम नहीं है। अब तो चल दिया तो चलते ही जायेंगे। देखेंगे कौन क्या प्रश्न करता है? वे चलते गए, रास्ते में चारों एक स्थान पर ठहर गये। जब सोने का समय हुआ तो चारों ने सलाह किया कि रात्रि के चार पहरों में अपन में से हर एक व्यक्ति हर एक पहर में जाग ले और तीन सोते रहें। पहले पहर में वह वृद्ध, दूसरे पहर में वृद्ध पत्नी, तीसरे पहर में छोटा लड़का और चौथे पहर में छोटी बहू जाग लेंगे, यह तय हुआ। पहले पहर में जब वह वृद्ध पहरा दे रहा था तो बड़ा भयंकर रूप रखकर एक राक्षस आया, उसने व्याकरण का एक सूत्र बोला- ''एको गोत्रे'', तो उस वृद्ध पुरुष ने इसके उत्तर में कहा- ऐको गोत्रे भवति स पुमान्, य: कुटुम्बं बिभर्ति। गोत्र में वही एक पुरुष प्रधान उज्ज्वल निर्मल श्रेष्ठ है जो समस्त कुटुम्ब का भरणपोषण करता है, और आप अनुभव भी करते होंगे कि घर का मुखिया जो सबके भरणपोषण का आधार है वह कुटुम्ब के बीच कितना श्रेष्ठ जंचता है? इस उत्तर को सुनकर राक्षस अति प्रसन्न हुआ और उसे बड़ा

पुरस्कार देकर चला गया। दूसरे पहर में बुढ़िया जगी तो वहाँ भी राक्षस ने एक प्रश्न किया ''सर्वस्य द्वे'', यह भी एक व्याकरणसूत्र है। उसने उत्तर दिया- सर्वस्य द्वेसुमतिकुमति संपदापत्तिहेतु। सब जीवों को ये दो चीजें सुमति और कुमति सम्पत्ति और विपत्ति का कारण होती हैं। जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति नाना, जहाँ कुमति तहाँ विपत्ति निधाना। कैसा भी संकट हो, कैसा भी दारिद्रय हो, यदि परिजन परस्पर सुमति से रहते हैं तो उनका समय बहुत अच्छा व्यतीत होता है और जितना भी वैभव हो, किन्तु हो जाय परस्पर में कुमति, तो कुछ काल बाद उनका वैभव भी नष्ट हो जाता है और सभी प्रकार के आरामों से वह पतित हो जाते हैं। तो सब जीवों को सुमति तो सम्पत्ति का कारण है और कुमति विपत्ति का कारण है। उचित उत्तर सुनकर उसे भी बहुमूल्य पुरस्कार देकर चला गया। तीसरे पहर में छोटा लड़का जगा, तब राक्षस आया व उसने प्रश्न किया- ''वृद्धो यूना'', यह भी एक संस्कृत का सूत्र है। इसका उत्तर उस लड़के ने यों दिया- वृद्धो यूना सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभि:। अर्थ यह है कि वृद्ध तो पति हो और उसकी युवती स्त्री हो, उस स्त्री का जब किसी युवक से परिचय हो जाता है तो वह वृद्ध पुरुष को जैसे कोई घी से मक्खी निकालकर फेंक देता है इस तरह छोड़ देती है। उचित उत्तर पाकर उसे भी इनाम देकर चला गया। अब अन्त स्त्री जगी तो वहाँ भी राक्षस आया और प्रश्न किया- ''स्त्री पुंवत्'', तो उसने उत्तर दिया स्त्री पुंवत् प्रभवलि यदा तद्धि गेहं विनष्टम्। जिस घर में स्त्री पुरुष की तरह चलाने वाली हो जाती है वह घर नष्ट हो जाता है। ऐसा अनुकूल उत्तर पाकर उसे भी इनाम देकर गया।

ज्ञानबल से सर्वाभ्युदय- भैया ! ज्ञानबल है तो किसी भी जगह हो, किसी भी स्थिति में हो वह अपने आपमें प्रसन्न रहता है, इस निजतत्त्व को तो कोई छुड़ा नहीं सकता ना? हम अपने आपके अन्तरङ्ग में सही ज्ञान बनाये रहें, धर्म करें तो इसे कोई छुड़ायेगा क्या? यही है सत्य विद्या। इस सत्य विद्या को न चोर चुरा सकते, न डाकू लूट सकते, न परिजन बाँट सकते, यह तो हमारा हमारे ही अधीन है। हम इस ज्ञान के द्वारा अपने इस ज्ञान का सिंचन करते रहें, अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञानमात्र निरखना सही आत्मसिंचन है, यही धर्मवृक्ष का सिंचन है तो इसके प्रताप से यह लोक परलोक हमारा पूर्ण अभ्युदय में व्यतीत होगा।

आत्मप्रकाशन की लगन में हित- भैया ! आत्मप्रकाशन की ओर लगन लगनी चाहिए। धुन की बात है। धुन लगना चाहिए। यह सोचना कि अभी हमारी स्थिति इस काबिल नहीं है कि हम धर्म में, ज्ञान में समय अधिक दे सकें तो ऐसे विचार वाले को तो कभी भी परिस्थिति न आ पायगी। हर स्थिति में तो कुछ न कुछ कमी ढूँढ़ निकालेगा। जिसकी जो स्थिति है उसको ही पर्याप्त स्थिति मानकर धर्मपालन में, ज्ञानार्जन में जो आत्मा के हित के कार्य हैं उन सब कार्यों में अपना उपयोग लगायें, समय लगायें, बस यही भला है। धर्म के लिए आगे समय की बाट जोहना उचित नहीं है। यह मोही पुरुष मैं करूँगा, करूँगा यह तो बहुत सोचता है, पर मैं मरूँगा, मरूँगा ऐसा कभी नहीं सोचता है। अचानक ही किसी दिन मरना तो अवश्य है। जो कोई भी मरते हैं क्या तिथि निर्णीत करके मरते हैं? क्या किसी को निमंत्रणपत्र देकर मरते हैं? सभी यों ही किसी दिन

अचानक गुजर जाते हैं। कल का भी तो ठिकाना नहीं है कि जीवन रहेगा कि न रहेगा। फिर जो अनेक वर्षों की चिन्ताएँ अभी से बनाये हैं उनसे क्या लाभ है? जैन शासन जैसा सुयोग बारबार मिलना अति दुर्लभ है। बहुत कठिनता से प्राप्त होता है। वीतराग ऋषिसंतों ने तत्त्व के मर्म की जो बातें बतायी हैं उनका ज्ञान करें उनमें ही अपना उपयोग लगायें और अपने आपमें उन्हें घटित करके जीवन सफल करें।

श्लोक- 626

दक्षो मूढः क्षमी क्रुद्धः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरविश्चतः।।

मदनज्वर की पीड़ा- जीव के स्वरूप को देखो तो समस्त जीवों का एक समान ही स्वरूप है। उस दृष्टि में किसी भी जीव से किसी का भेद नहीं है किन्तु उपाधि के भेद से जीवों में गुणगृत भेद भी नजर आता है और प्रदेशकृत भेद भी नजर आता है। देखो तो भूल भूल में कितना भेद हो गया, कोई जीव कीट मकोड़ा है, कोई मनुष्य है, कोई पशु पक्षी है, कोई वृक्ष, पृथ्वी आदिक स्थावर है। इतना अधिक अन्तर जो प्रदेशकृत आ गया है वह सब उपाधि का परिणाम है। गुणकृत अन्तर भी देखिये- कोई क्रोधी है, कोई मानी है, कोई मायावी है, कोई लोभी है, कोई कामी है और उनमें भी असंख्यात प्रकार की डिग्रियाँ हैं। इतने गुणकृत जो भेद हैं ये भी उपाधिकृत भेद है। उपाधियाँ विकारों के कारण हैं। सब विकारों में महान विकार है काम सम्बन्धी विकार। सभी शासनों में ब्रह्मचर्य की महिमा कही गई है। ब्रह्मचर्य व्रत ज्ञानहीन, बलहीन जीवों से नहीं धारण किया जाता है। सच्चा ब्रह्मचर्य तो वहाँ ही निभता है जहाँ निज ब्रह्मस्वरूप का भान है और उपयोग भी अपने आत्मस्वरूप की ओर लग गया है ऐसे ज्ञानी संतों से परमार्थ ब्रह्मचर्य भी पलता है और व्यवहारिक ब्रह्मचर्य भी पलता है। जो आत्मपरिचय से रहित हैं, जिन्होंने पर्याय को ही अपना स्वरूप मान लिया है, जो शरीर मिला उसी को ही 'ये मैं हूँ' ऐसा जो समझते हैं वे शरीर के दास बनते हैं और इन इन्द्रियों ने जो कुछ चाहा उसकी पूर्ति में उद्यत रहते हैं। काम का ज्वर इतना पीड़ा पहुँचाने वाला है कि जितने कष्ट पिशाच सर्प रोग आदिक भी नहीं देते और न दैत्य गृह राक्षस भी इतनी पीड़ा नहीं देते जितनी पीड़ा कामवासना में होती है।

ज्ञानोन्नत जीवन का साधन ब्रह्मचर्य- पुरुष का जीवन उत्तरोत्तर जो उन्नतिशील बनता है वह ब्रह्मचर्य के आधार पर बनता है। वर्तमान में उन्नत जीवन इस ही का तो नाम है जो ब्रह्मचर्य, शुद्धभोजन और स्वाध्याय अर्थात् ज्ञानार्जन, इन तीन बातों से भरा हुआ हो, उस ही जीवन को पवित्र जीवन कहते हैं। यदि ज्ञानार्जन का कोई साधन नहीं बना रखा, स्वाध्याय करके या गुरुमुख से सुनकर कुछ चर्चा द्वारा कुछ सुनाते हुए तत्त्व के चिन्तन द्वारा यदि शुद्ध ज्ञान का अर्जन नहीं करते हैं तो ज्ञानशून्य जीवन चाहे लोककला से लोक में अन्य

विद्यावों के कारण प्रतिष्ठा पा ले, लेकिन जिस ज्ञान से आत्मा को शान्ति मिलती है वह ज्ञान नहीं है अतएव शान्ति प्राप्त नहीं होती। जितना राग और मोह में बढ़ेगा यह जीव उतनी ही इसमें अशान्ति बढेगी। यह सर्वत्र नियम देख लो। वह बड़ा सौभाग्यशाली पुरुष है जो सब कुछ समागम होते हुए भी राग और मोह जिसके नहीं बढ़ता है, ज्ञान और वैराग्य की ओर ही दृष्टि रहती है वह सुखी भी होता है, अन्यथा आत्मज्ञानशून्य पुरुष सभी प्रकार के विषय और कषायों में अनुरक्त हो जाता है और दु:खी हो जाता है। तो ज्ञानशून्य जीवन उन्नत जीवन नहीं कहलाता। इस ज्ञानोन्नत जीवन का साध्य है।

अशुद्धभोजी के परमब्रह्मचर्य के लक्ष्य की भी अपात्रता- इसी प्रकार शुद्ध भोजन के बिना यद्वा तद्वा माँस मदिरा आदिक भोजन किए जाते हों तो यह तो निश्चित है कि उनके आत्मबोध नहीं है। आत्मज्ञान होता तो वे सब आत्मावों को अपने आत्मा की तरह मानते। जो दूसरे जीवों को अपनी तरह मानता है जैसे खुद के कोई कांटा चुभे तो दु:ख होता है ऐसे ही दूसरे जीवों के प्रति भी समझता है कि इन्हें भी ऐसा ही दु:ख होता है। जीवघात के बिना माँस उत्पन्न नहीं होता। माँसभक्षी पुरुष और मदिरापायी पुरुष के भी आत्मा की सुध नहीं रहती है। माँसमदिरा आदिक रहित जो भोजन है वह शुद्ध भोजन कहलाता है। शुद्ध भोजन बिना भी जीवन उन्नत नहीं कहलाता। तीसरी बात है ब्रह्मचर्य की। सब कुछ गुण आ जायें, लोकप्रतिष्ठा, लोकविद्या, वैभव सब कुछ भी आ जायें और धार्मिक पंथ में तपश्चरण संयम छुवाछूत ये सभी बातें भी करने लगे जो धर्म के नाम पर की जाती है किन्तु एक ब्रह्मचर्य न हो, काम से व्यथित जीवन हो तो उसका चित्त ही स्थिर नहीं रहता। धर्मात्मा तो वह बनेगा ही क्या? तो यों जीवन वही उन्नतिशील कहलाता है जहाँ ब्रह्मचर्य, शुद्धभोजन और ज्ञानार्जन ये तीन बातें पायी जाती हैं।

ब्रह्म की उपासना में ब्रह्मचर्य- यह प्रकरण ब्रह्मचर्य का चल रहा है। जगत में जीवों को आत्मध्यान ही शरण है, ब्रह्म की उपासना ही शरण है। अपने आपको शरीर से, कर्मों से रहित जैसा कि अपने सत्त्व में कारण स्वरूप है, यों ज्ञानानन्दमात्र निरखें इसी का नाम है ब्रह्मचर्य की उपासना। मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, इस प्रकार की बारबार भावना करने से जो अन्य संकल्प विकल्प दूर होते हैं उस समय जो आनन्द है उसका अनुभव ही ब्रह्मचर्य की सच्ची उपासना है। तो आत्मा का ध्यान ही इस जीव को वास्तव में शरण है। चाहिए इसे शान्ति और शान्ति मिलती है विकल्प छोड़कर, पर का मोह छोड़कर अपने आपके स्वरूप में अपना ज्ञान लगाने से। आत्मध्यान का पात्र ब्रह्म की रुचि रखने वाला पुरुष ही हो सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्य सिद्धि पर यहाँ अधिक जोर दिया जा रहा है। ब्रह्मचर्य से मनोबल, वचनबल और कायबल भी समृद्ध रहते हैं। इस सबके लिए भी ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक है।

श्लोक- 627

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नरा:कामहठात्कारविधुरीकृतमानसा:।।

कामवशता में आत्महनन- अज्ञानी मोहियों के समूह में अधिकर विवाद, झगड़े उठा करते हैं वे इस ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण अधिकतर हुआ करते हैं। यह मनुष्य विषयों से आतुर होकर अपने मन:प्रिय साधन स्त्री आदिक की चाह करता है, उसकी प्राप्ति नहीं हुई तो कभी कभी वह इतने वेग में आ जाता है कि शस्त्र, अग्नि आदिक से अपने ही प्राणों का घात कर डालता है। कामव्यथा से पीड़ित पुरुष क्या अन्याय नहीं कर डालता? अपने आपके सम्हाल की बात चल रही है। अपने आत्मा की सम्हाल रखना है तो मूल में ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह भी गुण आना चाहिए कि पुरुष कर्तव्यशील कर्मठ बने, अकर्मठता न आ सके।

कर्तव्यशीलता से ब्रह्मचर्य की साधना- जो मनुष्य बेकार होते हैं, जिनको उन्नत काम का प्रसंग नहीं मिलता, बेकार रहते हैं उनके अनेक प्रकार के खोटे आशय बन जाते हैं। बेकारी से बढ़कर इस जीव का कोई शत्रु नहीं है। गृहस्थ भी एक धर्मात्मा पुरुष है। घर गृहस्थी हो तो क्या यहाँ धर्म की आराधना कुछ कम है? ज्ञानी साधु संतों की अपेक्षा भले ही कम हो, लेकिन समय पर आजीविका करना और साधु संतों का आदर करना, व्यवस्था करना, सत्संगति में रुचि रखना और अनेक ढंगों से परोपकार करना आदिक जो कर्तव्य निभाते हैं वे गृहस्थ भी धर्मात्मा पुरुष हैं। हाँ बेकारी यदि हो तो बेकारी में गृहस्थ भी पतित हो जाता और साधु भी पतित हो जाता है। गृहस्थ की बेकारी गृहस्थ के ढंग की है, साधु की बेकारी साधु के ढंग की है। जो साधु ज्ञानार्जन, तपश्चरण आदिक आवश्यक कार्यों में न लगे वह साधु भी बेकार है। बेकार पुरुष में खोटे भाव आ ही जाते हैं। अत: उद्यमशील जरूर रहना चाहिए। कभी कुछ काम न भी मिले, कदाचित् ऐसी भी स्थिति आ जाय तो दीन दु:खियों की सेवा करने का कार्य तो सदा मौजूद है, उसे कौन छुड़ा लेता है, उसे करें। किसी न किसी कर्तव्य में अवश्य बने रहे पुरुष, अन्यथा बेकार रहने में खोटे आशय बनेंगे और अनेक तरह के विषयकषाय उत्पन्न होंगे तो जो कर्मठ हैं, धर्म के रुचिया भी हैं ऐसे पुरुष ब्रह्मचर्य की साधना कर लेते हैं।

श्लोक- 628

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुश:।।

कामवञ्चना से विडम्बना- जो पुरुष विषयों की अभिलाषा रखते हैं, कामवेदना से पीड़ित हैं, काम के द्वारा ठगाये गए हैं वे पुरुष कई बातों में चतुर भी हों तो भी मूर्ख हो जाते हैं। बहुत बहुत क्षमा की प्रकृति रखते हों तो भी क्रोधी हो जाते हैं। जैसे आत्मा का सार आत्मा में चैतन्य की दृष्टि है, चैतन्य तत्त्व है इसी प्रकार शरीर में शरीर का सार बलवीर्य है। शरीर के बल को बरबाद करना इससे यह मनुष्य निर्बल हो जाता है, और कमजोर पुरुष के क्रोध आता ही रहता है तो जो कामी पुरुष हैं वे यदि क्षमा की प्रकृति भी रखने वाले हैं तो भी क्रोधी हो जाते हैं, शूरवीर कायर बन जाते हैं इस काम के समक्ष। धन्य है वह सत्संगति जिसमें रहकर यह मनुष्य अपने ज्ञान को स्वच्छ और उज्ज्वल बनायें रहता है। जिसका ज्ञान बिगड़ा, जिसे कहते हैं दिमाग बिगड़ा, पागलपन आया उसका तो सारा जीवन बिगड़ गया। अब उसे क्या सुख? जो हित अहित का विचार न कर सके ऐसी स्थिति पा ले उस मनुष्य का जीवन क्या जीवन है? ऐसे ही समझिये हम हित अहित का विचार न कर सकें और जो कुमार्ग है, व्यसन है, पाप है, हेय चीज हैं उनमें ही लगे रहें, उनकी आदत बन जाय, उन्हें न छोड़ सकें तो हमें भ्रष्ट कहा जायगा। ज्ञान काम ही नहीं करेगा। तो जिसका ज्ञान विषयों में पापों में प्रवृत्त होता है उसे आप ज्ञानवान कहेंगे क्या? वे भी एक तरह से पागल हैं। जिन्हें अपने आपकी दया नहीं है, जो अपने प्रभु पर अन्याय कर रहे हैं ऐसे पुरुषों को आप ज्ञानी कहेंगे क्या? तो अपना ज्ञान स्वच्छ बना रहे, ऐसी कोशिश रहना चाहिए। सत्संगति हो, ब्रह्मचर्य हो, ज्ञानार्जन हो, इससे बुद्धि की स्वच्छता होती है। जो पुरुष कामातुर हैं वे कितने ही बड़े हों, लोगों की दृष्टि में बड़े माने जा रहे हों तो भी वे क्षणमात्र में लघु बन जाते हैं। उद्यमी पुरुष भी आलसी हो जाते हैं।

ज्ञानयज्ञ में ब्रह्मचर्य की साधकता- इस प्रसंग में मतलब यह है कि कोई पुरुष किसी अन्य स्त्री में आसक्त न हो, कोई स्त्री किसी भी परपुरुष में आसक्त न हो। गृहस्थ है तो अपनी स्त्री अथवा पति में ही सन्तुष्ट रहे ऐसा सन्तोष जब रहता है तब धर्म भी होता है, कर्म भी कटते हैं, बुद्धि स्वच्छ रहती है, वही एक सौभाग्य है। ब्रह्मचर्य की साधना होती है। ब्रह्म कहिये, आत्मा में चर्य कहिये रमण करना अर्थात् यह ज्ञान अपने आत्मा के उस शुद्ध सहज निर्मल स्वत:सिद्ध ज्ञानस्वरूप को जानता रहे यही है महायज्ञ। यही है महातपश्चरण।

ब्रह्मचर्य का परमशरण- ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व की साधना के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य से नहीं रहते, पर स्त्री की ओर तकते हैं ऐसे जीवों का लोक में भी आदर कहाँ है? और बल्कि सारा जीवन विषैला हो जाता है। एक केवल मन के भावों को न सम्हाल सके ये कामी पुरुष जिससे इतनी

विडम्बनाएँ बन जाती हैं। ब्रह्मचर्य को परमतप कहा गया है। ब्रह्मचर्य परम तप:। इस लोक में अपने आपका केवल

आप ही शरण है, खूब निरख लीजिए। इतनी जिन्दगी हुई है अनेकों का सहारा लेते हुए, अनेकों पर विश्वास किया है। लेकिन सभी प्रसंगों में देख लो, कोई किसी का शरण होता भी है क्या? जब तक स्वार्थ साधना चलती है दूसरों को तब तक वे उसे सब कुछ मानते हैं पर जब स्वार्थ नहीं सधता तो फिर कौन किसका मित्र रहता है? सगा पुत्र भी तो किनारा कर जाता है। तो जगत में इस जीव को शरण कुछ भी बाहर में नहीं है, और बढ़कर क्या कहा जाय, जब यह देह भी हमारा नहीं होता, यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तो अन्य की तो बात ही क्या है?

क्लेशों का साधन शरीर- जितने भी इस जगत में क्लेश है वे सब इस शरीर के कारण हैं। शरीर एक अलग वस्तु है, जीव एक अलग वस्तु है। कल्पना करो कि इस जीव के साथ शरीर न लगा होता, यह केवल जीव होता तो भूख कहाँ से लगती? शरीर के सम्बन्ध से ही भूख प्यास, ठंड गर्मी आदिक की वेदनाएँ होती हैं, और लोक में जिसे सम्मान अपमान कहते हैं वे भी इस शरीर के सम्बन्ध से है। इस शरीर को ही तो निरखकर यह भाव करते हैं कि मेरा लोगों ने बड़ा अच्छा सम्मान किया। इस शरीर को ही आप मानकर यह अनुभव करते हैं कि अमुक ने मेरा बहुत अपमान किया। तो सम्मान और अपमान के भी कष्ट इस शरीर के सम्बन्ध से हुए। शरीर का सम्बन्ध न होता तो इस जीव को काहे का कष्ट था? खूब विचारते जाइये, जितने भी कष्ट हैं वे सब शरीर के सम्बन्ध से हैं।

शुद्धस्वभाव के उपयोग में धर्मपालन- शरीररहित जीव का मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप है। यद्यपि यह जीव वर्तमान शरीर में बँधा है तिस पर भी यह शरीर से निराले स्वरूप वाला है। ज्ञान के द्वारा हम इस बन्धन अवस्था में भी अपने आपको शरीर से निराला केवल ज्ञानस्वरूप निहार सकते हैं। यही है धर्मपालन। अपना धर्म पाल रहे हैं, अपना मायने अपने आत्मा का। और, आत्मा का स्वभाव है ज्ञान और आनन्द, उस रूप अपने को निहार रहे हैं, यही है आत्मधर्म का पालन। सब जीवों के पास यह धर्म है और इसकी दृष्टि करनी चाहिए। जिन्हें अपना उद्धार करना है उन्हें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि धर्म से ही उद्धार होता है, और धर्म वही है जो मेरे स्वभाव में बसा हो। जो बात मेरे स्वभाव में न हो, कोटि उपाय करने पर भी जो बात मेरे में लादी न जा सके वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे में स्वयं ज्ञान और आनन्द का स्वभाव है, इस स्वभाव की आराधना की जाय तो इस तरह शुद्ध ज्ञान और आनन्द की धारा प्रकट होती है, वहाँ शुद्ध शान्ति और आनन्द मिलता है। यही है धर्मपालन।

व्यवहारधर्मपालन का उद्देश्य आत्मोपलब्धिरूप परमधर्म- धर्मपालन का सबकी आत्मा से सम्बन्ध है। यह बात जिन उपायों से मिल सके वह उपाय कहलाता है व्यवहारधर्म। व्यवहारधर्म में कुछ काल्पनिक भेद से भेद भी बन गया है। लेकिन व्यवहारधर्म के लिए ही तो धर्म नहीं पाला जाता है, निश्चयधर्म के लिए व्यवहारधर्म

पाला जाता है। जैसे प्रभुपूजा का लक्ष्य यह है कि हम अपने को प्रभु के स्वरूप की तरह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप में निरख लें, ऐसा तो कोई यत्न करे नहीं और केवल पूजा की जो बाहरी विधियाँ हैं घंटा बजाया, यहाँ से वहाँ पुष्प आदिक रख दिया और समझ ले कि मैंने प्रभुपूजा कर ली है तो उसकी समझ भूलभरी है। प्रभुपूजा का उद्देश्य है कि प्रभु का जो ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप का अनुभव हो जाना कि प्रभु में यह माहात्म्य पड़ा हुआ है। प्रभु की तरह अपने आप निरखना, यह जब तक नहीं किया जा सकता तब तक प्रभु के स्वरूप का दर्शन भी नहीं होता।

सत्य उद्देश्य में धर्मपालन की सफलता- मनुष्य जितने भी कार्य करते हैं उनका प्रभाव स्वयं पर होता है। तो यों आत्मस्वरूप में मग्न होना, इसकी दृष्टि बनाना, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, सबसे जुदा हूँ, परिग्रह से भी दूर हूँ, निर्लेप हूँ, केवल हूँ, ऐसा अपने आपका अनुभव करना यही है धर्मपालन, और इससे ही वास्तव में शान्ति होती है और मुक्ति की प्राप्ति होती है, यह मूल लक्ष्य बन जाना चाहिए। और जो व्यवहारिक भेद है, कोई किसी मजहब को मानता, कोई किसी मजहब को मानता, कोई किसी संन्यासी को मानता, कोई किसी प्रकार की मान्यता रखता, ये सब बातें करते रहने के लिए नहीं किए जाते, किन्तु ब्रह्मस्वरूप आत्मस्वरूप का परिचय पाकर उसमें ही समृद्धि प्राप्त कर ले, इसके लिए किया जाता है। जब उद्देश्य से हट जाता है मनुष्य तो फिर जो वह स्तुति करता है वह विडम्बना और हास्य की चीज बन जाती है।

उद्देश्यभ्रष्टता में विडम्बित प्रवृत्तियाँ- कोई एक चतुर सेठ था, उसके कोई विवाह काज हुआ तो लोग जीमने आये। पातलें परोसीं और साथ में तीन चार अंगुल की सींक भी परोसी दाँत खोदने के लिए, ताकि लोग पातल से सींक निकालकर पातल में छेद न करें। एक कहावत है जिस पातल में खाये उसी में छेद करे इस उद्देश्य से उस सेठ ने अलग से तीन चार अंगुल की एक-एक सींक भी साथ में परोसवा दी थी। अब सेठ तो गुजर गया। जब उसके लड़कों के कोई कामकाज का अवसर आया तो इस शान में आ गये कि हमारे पिता ने जैसा काम किया था उससे हम दूना अच्छा काम करेंगे। तो सेठ ने 3 मिठाइयाँ बनवायी थीं, लड़कों ने 6 मिठाई बनवायी। सेठ ने 4 अंगुल की सींक परोसी थीं, लड़कों ने 12 अंगुल की सींक परोसी क्योंकि वहाँ शान पड़ती है। जब वे लड़के भी गुजर गए तो सेठ के नाती पोतों का जमाना आया। उनके जब कोई काम पड़ा तो वे और भी शान में आ गए। सोचा कि जैसा काम हमारे बाप ने किया उससे दूना अच्छा हम काम करेंगे। सो बाप ने 6 मिठाई बनवायी थीं, उन्होंने 12 मिठाई बनवायी। बाप ने 12 अंगुल की सींक परोसी थी उन्होंने डेढ़ डेढ़ फुट का डंडा परोसवाया। उन्होंने उस सींक परोसने का लक्ष्य ही न समझ पाया तो डेढ़ डेढ़ फुट के डंडे परोसने तक की नौबत आ गयी, इतनी बड़ी विडम्बना बन गयी।

धर्मकार्य का प्रयोजन निर्दोषानुभूति- जब लक्ष्य से भ्रष्टता हो जाती है तो प्रवृत्तियाँ विडम्बनारूप बन जाती हैं। हम जितने भी धर्म के कार्य करें उनमें यही समझें कि ये सब काम रागद्वेष मोह को दूर करने के लिए हैं, और देखें कि हम इन कार्यों से रागद्वेष मोह से दूर होते हैं या लगते हैं। यदि लगते हैं तो वे धर्मकार्य नहीं

और यदि दूर होते हैं तो वे धर्मकार्य हैं। इसके लिए मूल काम यह करना होगा कि मेरे स्वभाव में रागद्वेष मोह नहीं हैं, केवल मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, ऐसी उपासना करने से रागद्वेष मोह को दूर करने का अवसर मिलता है।

।।ज्ञानार्णव प्रवचन अष्टम भाग समाप्त।।